THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

पू. श्री कानजीस्वामी जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में

आचार्य कुन्दकुन्ददेव

लेखक

श्री एम.बी. पाटील, शेडवाल

अनुवादक

ब्र. श्री यशपाल जैन,

एम.ए., जयपुर

पण्डित भरतेश पाटील शास्त्री

एम.ए., रिसर्च स्कालर, मुरुगुंडी, बेलगाम (कर्नाटक)

प्रकाशक

श्री दिगम्बर जैन ट्रस्ट

बैंगलोर (कर्नाटक)

प्रथमावृति कन्नड़	२०००
प्रथमावृति मराठी	६०००
प्रथमावृति हिन्दी	६०००
योग	१४०००

न्योछावर - छह रुपये

प्राप्ति स्थान :—

१. श्री दिगम्बर जैन ट्रस्ट
१४१, आर.टी. स्ट्रीट, बैंगलोर (कर्नाटक)
पिन ५६० ०५३

२. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान)
पिन ३०२ ०१५

प्रकाशकीय

"श्री दिगंबर जैन ट्रस्ट, बेंगलोर" यह संस्था कर्नाटक प्रांत में जैन साहित्य के क्षेत्र में १९८२ से कार्यरत है। इस संस्था का मूल उद्देश्य आचार्य श्री कुंदकुंददेव के सभी शास्त्र कन्नड़ भाषा में छपाने का रहा। इस उद्देश्य में यह संस्था शत प्रतिशत सफल सिद्ध हुई है, यह जानकारी देते हुए हमें विशेष आनंद होता है। इस संस्था ने समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ ग्रंथों को सर्वोत्तम छपाई, उत्कृष्ट कागज और मजबूत बायँडिंग के साथ वाचकों के कर कमलों में पहुंचाया है।

छहढाला ग्रंथ के कन्नड़ पद्यानुवाद तथा कन्नड टीका के साथ चार संस्करण छप चुके। केवल पद्यानुवाद भी अलग रीति से छापा है। उसकी कैसेट भी तैयार की है। समयसार आदि का भी कन्नड़ पद्यानुवाद की कैसेट बनाने की योजना है। डॉ. योगेश जैन द्वारा संकलित / संपादित कुंदकुंद सुक्तिसुधा का कन्नड़ संस्करण और भव्यामृतके संस्करण निकल चुके।

इन ग्रंथों को छोड़कर पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामीजी के भक्तामर (तीन संस्करण) और समाधिशतक प्रवचन भी समाज में बहुत प्रिय रहे।

कुंदकुंद शतक, शुद्धात्मशतक, क्रमबद्ध पर्याय, आप कुछ भी कहो, इत्यादि डॉ. हुकुमचंद भारिल्लजी लिखित साहित्य भी कन्नड़ अनुवाद के साथ छपाया है।

आचार्य कुंदकुंद द्विसहस्राब्दि निमित्त हमने आचार्य कुंदकुंददेव मराठी में छापकर मराठी भाषा भाषी लोगों की सेवा भी प्रारम्भ किया है।

आचार्य कुंदकुंददेव

पूज्य श्री गुरुदेव कानजी स्वामीजी के जन्मशताब्दि निमित्त आचार्य कुंदकुंददेव हिंदी भाषा में छापकर हमने हिंदी लोगों की सेवा चालू की है। भविष्य में यथासंभव हिंदी भाषा में ग्रंथ प्रकाशन करने का क्रम अखंड रखने का भाव है। प्रस्तुत "आचार्य कुंदकुंददेव" हिंदी भाषा में हमारा यह प्रथम प्रकाशन छप रहा है।

कन्नड़ भाषा में अल्पावधि में इतना प्रकाशन कार्य करना हमारे विद्वान श्री एम. बी. पाटील (शेडबाल) के निस्पृह और अखंड सेवा का ही सुमधुर फल है। उनके सेवा से हम विशेष प्रभावित हैं। उनके हम हृदय से चिर ऋणी हैं; कृतज्ञ हैं। वर्तमान में आप परमात्मप्रकाश ग्रंथ का कन्नड भाषा में अनुवाद कर रहे हैं। आपका सेवायोग आजीवन संस्था को मिलता ही रहेगा ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है।

मराठी तथा हिंदी भाषा के प्रकाशन विभाग में ब्र. यशपालजी जैन एम. ए. जयपुर के योगदान के संस्मरण किये बिना हमसे रहा नहीं जाता। भविष्य में इनकी सेवा हमें अपेक्षित है। नवोदित युवा विद्वान श्री भरतेश पाटील, जैन दर्शन शास्त्री एम. ए. से हम विशेष कार्य की अपेक्षा रखते हैं। इस कार्य के लिए उन्हें हार्दिक बधाई हैं तथा इस कृति के शुद्ध मुद्रण हेतु प्रूफरीडिंग एवं प्रेस आदि की व्यवस्था में डॉ. योगेश जैन, अलीगंज का विशेष सहयोग मिला है, एतदर्थ उनके हृदय से आभारी हैं तथा वे धन्यवाद के पात्र हैं।

अध्यक्ष
सी. बी. भंडारी
श्री दिगंबर जैन ट्रस्ट,
१४१. आर. टी स्ट्रीट
बेंगलोर (कर्नाटक)
पिन -५६००५३

आचार्य कुंदकुंददेव

लेखक का मनोगत

अज्ञानी जीव अनादि काल से पर्यायमूढ़ रहा है । अतः उसे आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ । अज्ञान ही दुःखावस्था का/संसारावस्था का मूल कारण है । निज शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं होने से मोह, राग, द्वेष होते हैं । इसलिए निज शुद्धात्मा का निर्मल, स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करके मोहादि परिणामों का त्याग करना ही सुखदायक मोक्षमार्ग का शुभारम्भ है ।

समयसारादि अध्यात्म ग्रंथों के अध्ययन से जीव के शुद्ध स्वभाव का ज्ञान होना सहज तथा सुलभ है । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अथवा मोक्षमार्ग का प्रारम्भ शुद्धात्मा के ज्ञान-श्रद्धान के बिना शक्य नहीं, यह त्रिकालाबाधित सत्य हम सभी को स्वीकार करना आवश्यक है।

अध्यात्म शब्द ही शुद्धात्मा की मुख्यता रखता है और अन्य सभी का निषेध करता हैं । निज शुद्धात्मा का आश्रय/अनुभव करने से ही वर्तमानकालीन दुःखमय-अशुद्ध पर्याय भी सुखमय-शुद्धरूप बन जाती है; इसे ही मोक्ष कहते है । निज शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य अप्रयोजनभूत पदार्थों की जब तक श्रद्धा रहेगी तब तक धर्म-मार्ग की प्राप्ति संभव नहीं है । इसलिए ही व्यवहार को (व्यवहारनय से प्रतिपादित विषय को) अभूतार्थ और निश्चय को (निश्चय से प्रतिपादित विषय को) भूतार्थ कहा है ।

जैन दर्शन एक द्रव्य में अन्य द्रव्य का अस्तित्व स्वीकारता नहीं है अर्थात् परस्पर दो द्रव्यों में अत्यंत अभाव स्वीकारता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि अनंतानंत जड़-चेतन द्रव्यों की स्वतंत्रता मानता है। पुद्गल का पुद्गल के साथ और जीव का पुद्गल के साथ परस्पर बंध होता है तो भी अनंतानंत द्रव्यों की स्वतंत्रता में बाधा नही आती। एक द्रव्य का अन्य द्रव्य में प्रवेश नही होता, यही द्रव्य की वास्तविकता है और यही जिनवाणी की मौलिकता है। इस मर्म को जानकर निश्चयनय के विषय को मुख्य करके मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहिए; यह जिनागम का उपदेश है।

पराश्रित जीवनक्रम अनादि काल से चलता आया है। पराश्रय से अर्थात् निश्चय निरपेक्ष व्यवहारनय कथित विषय के अवलंबन से जीवन में वास्तविक धर्म-मोक्षमार्ग-वीतरागता प्रगट होना शक्य नहीं है। इस प्रकार जिनधर्म का मर्म आचार्य कुंदकुंद देव ने अपने अनेक ग्रंथों में स्पष्ट किया है। आचार्य की लोककल्याणकारी करुणाबुद्धि के फलस्वरूप प्राप्त पंचास्तिकाय, अष्ट पाहुड़, प्रवचनसार, समयसार और नियमसार ग्रंथों का क्रम से अध्ययन करने पर आचार्यदेव का वास्तविक चरित्र हमारे मनः चक्षु के सामने स्पष्ट होता है। आचार्य की आत्मशुद्धि क्रमशः बढ़ती गयी। वास्तविक देखा जाय तो आचार्य रचित प्रत्येक गाथा का प्रत्येक शब्द उनका महान चरित्र हमें समझाता है। ऐसी स्थिति में उनके स्वतंत्र जीवन चरित्र की आवश्यकता ही क्या है? तथापि—

अज्ञानी अनादि काल से अज्ञानं के कारण बहिर्मुख दृष्टि से ही निरीक्षण करता रहता है। अतः महापुरुषों का जीवन चरित्र भी बाह्य घटनाओं के आधार से ही जानना चाहता है। इस प्रवृत्ति से वास्तविक जीवन का स्वरूप समझ में नहीं आता और शाश्वत सुख का प्रयोजन भी सधता नहीं है। इसलिए महापुरुषों का जीवन चरित्र अंतर्मुख दृष्टि से ही देखना चाहिए। अंतर्मुख दृष्टि से उनका सत्य स्वरूप ख्याल में आता है और महापुरुषों के जीवन का वास्तविक लाभ भी मिलता है। इस ही एक विचार से आचार्य कुंदकुंददेव का जीवन चरित्र लिखने का प्रयास किया है।

इस चरित्र में आचार्य का विशिष्ट बचपन, उत्तरोत्तर वृद्धिंगत आत्मसाधना और उसकी महिमा, उनका प्रगाढ़ गांभीर्य लोकोपकारी साहित्य रचना, विदेह क्षेत्री गमन आदि विषयों को अपनी अल्पबुद्धि से कथन किया है। आचार्यों के माता-पिता जी के नाम और बचपन की घटनाओं को इतिहास की कसौटी पर न कसे इतना वाचकों से मेरा नम्र निवेदन है।

यह कृति किसको कितनी रुचेगी यह लिखना अप्रासंगिक होगा। तथापि सुपक्व बुद्धिधारकों को अध्यात्म प्रणेता की महिमा और अध्यात्म ग्रंथों के अध्ययन की प्रेरणा की मुख्यता से यह मेरा प्रयास अच्छा लगेगा ऐसा मेरा अनुमान है। इस ही आशा से कन्नड़ भाषा भाषियों के करकमल में यह कृति अर्पण करता हूँ। मेरे अल्प अध्ययन के कारण इस किताब में अनेक कमियाँ रह सकती हैं। वाचकों को कमियाँ ख्याल में आयेगी। उनसे मेरा नम्र निवेदन है कि मुझे त्रुटियों

का उपाय के साथ ज्ञान करावें ताकि मैं अगले संस्करण में सुधार कर सकूं। आपकी सूचनाओं का मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ। यह कृति आचार्य के जीवन को समझने के लिए और उनके लोकोत्तर ग्रंथों के अध्ययन के प्रेरक सिद्ध हो जाय तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा।

दि. २२/४/१९८३

श्री एम. बी. पाटील, शुद्धात्मसदन
हुलबत्ते, कॉवनी, शहापुर
बेलगांव (कर्नाटक)
पिन-५९०००३.

अनुवादकीय

श्री एँम. बी. पाटील (शेडबाल) लिखित आचार्य कुंदकुंददेव का चरित्र हिंदी भाषा में छपाना चाहिए यह भावना १९८३ से ही थी। लेकिन अनेकानेक कारणों से यह कार्य नहीं हो पाया। आचार्य कुंदकुंद द्विसहस्त्राब्दि निमित्त यह चरित्र मराठी भाषा में आया। वाचकों की प्रतिक्रिया अनुरूप रही और अनेक वाचकों ने हिंदी में छपाना चाहिए ऐसा भाव व्यक्त किया। अतः अब पू. श्री गुरुदेव कानजी स्वामीजी के जन्मशताब्दी निमित यह भावना सफल हो रही है।

ऐतिहासिकता- आचार्य कुंदकुंद के संबंध में प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त महत्त्वपूर्ण उद्धरण तो लेखक ने दिया ही है। साथ ही आचार्य की जन्मभूमि, तपोभूमि, कर्मभूमि स्थानों पर जाकर वहाँ के शिलालेख देखे-पढे और स्पष्ट तथा महत्वपूर्ण जानकारी दी है। आचार्यश्री का काल निश्चित करते समय अनेक विद्वानों के विचारों को सन्मान रखते हुए ग्रंथ के आधार से अपना प्रामाणिक विचार रखने से भी नहीं चूके। ऐतिहासिक विषयों में अनुमान को आस्पद नहीं दिया।

तात्त्विक प्रामाणिकता- आचार्य श्री के जीवन विषयक प्राप्त सामग्री का उपयोग तो किया ही है। साथ ही आचार्यश्री से रचित ग्रंथों के आधार से उनका मुनि जीवन, तत्वचिंतन, उपदेश कथन प्रस्तुत किये हैं। समयसार आदि ग्रंथों के अध्ययन करनेवाले पाठकों को इसका पता चलेगा ही। अथवा चरित्र वाचन के बाद ग्रंथों का

अध्ययन करेंगे तो भी सब खुलासा हो जायगा। लेखक की यह कृति स्वतंत्र होनेपर भी यथार्थ तात्विक परंपरा से अत्यंत निगडित है। परंपरा तो सुरक्षित रखी है; लेकिन अन्धश्रद्धा को किंचितमात्र भी स्थान नहीं दिया हैं।

भावात्मक वास्तविकता—आचार्य संबंधी भक्तिभाव प्रगट करते समय वास्तविकता का लेखक को विस्मरण नहीं हुआ है। भक्ति, बहुमान, सन्मान, आदर सब कुछ होने पर भी सब तर्काधिष्ठित, सुसंगत और शास्त्र सम्मत है। वीतराग तत्त्व जनमानस में ससन्मान सहज विराजमान हो जाय, यह लेखक की भावना सफल हुई है। किसी भी प्रकरण में आचार्य कुंदकुंददेव को छोटा बनाने का अपराध नही किया है।

बालक कुंदकुंद को माँ लोरियाँ सुनाती है, वे लोरियाँ सहृदय वाचकों को प्रभावित करती हैं। इससे मुनिश्वरों के बाल-जीवन का भावभासन स्पष्ट होता है। मुनि जीवन में होनेवाली ग्रंथरचना की स्वाभाविकता पाठकों के हृदय को झकजोर देती है और मुनियों की महिमा मन में वृद्धिगंत होती है। विदेहगमनरूप ऐतिहासिक घटना के लिए अनेक शिलालेखों का और ग्रंथों का उल्लेख आचार्य की विशेषता में चार चांद लगाता है।

समयसार आदि ग्रंथ रचने की पार्श्वभूमि प्रभावक सिद्ध हुई है। इससे वाचकों को शास्त्र स्वाध्याय की प्रेरणा मिलती है। पंचास्तिकाय से लेकर भक्तिसंग्रह पर्यंत का ग्रंथ परिचय भी मार्मिक बन पड़ा है। संक्षेप में इतना लिखना आवश्यक है कि लेखक अपने उद्देश्य में सफल हुए हैं।

आचार्य कुंदकुंददेव

कन्नड भाषा की मधुरता व मृदुता हिंदी भाषा में लाना कैसे संभव है? क्योंकि प्रत्येक भाषा की अपनी-अपनी विशेषता होती है। लेखक का भाषाविषयक साहित्यिक, लालित्य, उपमादि, निसर्ग सौंदर्य का वर्णन सर्वांशरूप से हिंदी में लाया ही है ऐसा लिखने के लिए मैं असमर्थ हूँ। तथापि ऐतिहासिक प्रामाणिकता, तात्त्विक एकरूपता और जिनवाणी का मूल अभिधेय वीतरागता, ऐसे मूलभूत प्राणभूत विषय में कमी न आवे ऐसा पूर्ण प्रयास आरंभ से अंत तक मैने किया है। वाचक स्वयमेव रसास्वादन के साथ निर्णय करे।

ब्र. यशपाल जैन एम. ए. जयपुर.

दि. २५/१२/१९९० *श्री भरतेश्वर पाटील एम. ए.*

मुरगुंडी, जि. बेलगांव,

(कर्नाटक)

आचार्य कुंदकुंददेव

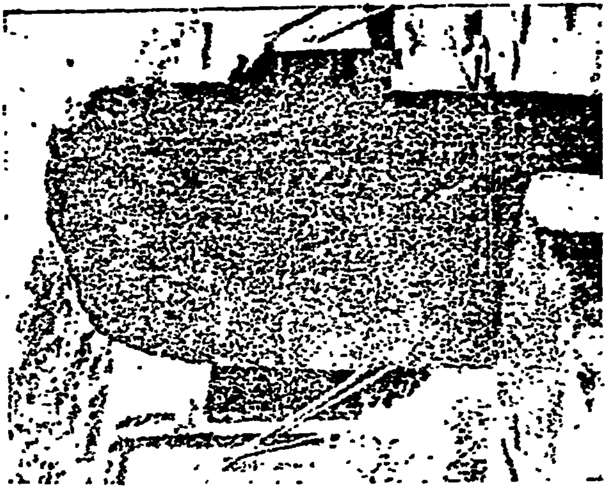

आचार्य कुंदकुंद की जन्मभूमि विषयक
सातवीं शताब्दी का शिलालेख (कोण्डकुंद)

आचार्य कुंदकुंददेव के प्राचीन व पवित्र चरण चिन्ह पोन्नूरमलै (तमिलनाडु)

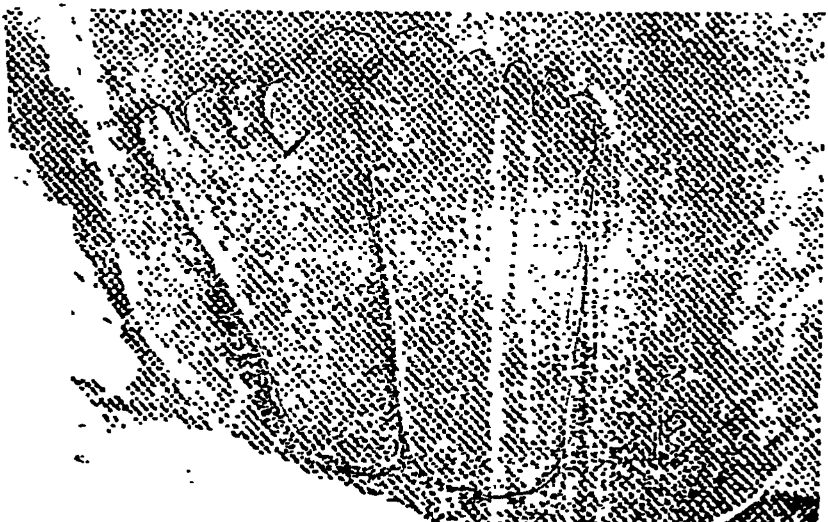

|| परमात्मने नमः ||

आचार्य कुंदकुंददेव

अरुहा सिध्दायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठि ।
ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ।। १

मंगलं भगवान् वीरो मंगल गौतमो गणी ।
मंगलं कुंदकुंदार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ।।

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।

भारतीय संस्कृति मूलतः आध्यात्मिक संस्कृति है । इस संस्कृति का सार और अन्तःप्राण आत्मदर्शन ही है । अनादिकाल से प्रौढ़, दूरदर्शी और विवेकी पुरुषों का प्रयत्न इसी अन्तःप्राण की प्राप्ति के लिए अनवरतरूप से चला आ रहा है । वे बाह्य प्राणों की कीमत पर भी इस अन्तःप्राण-शुद्धता को प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं । विशेष प्रयत्न से प्राप्त इस आत्मानंद के सामने विश्व का कोई भी भौतिक आनन्द उन्हें आकर्षक नहीं लगतां ।

इस तरह की आध्यात्मिक स्वाधीनता और आत्मा के अखण्ड ऐश्वर्य की पूर्ण प्राप्ति जिस महापुरुष को हुई है, वही वस्तुतः स्वतंत्र पुरुष है, अजित है, अक्षय है, पूर्ण सुखी है, परमात्मा है और सिद्ध भगवान है। यही सिद्धावस्था आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम साध्य है, सर्वोच्च स्थान है। यहाँ ही आत्म-विकास पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। यह ही सिद्धावस्था /कृतकृत्यावस्था है, जहाँ कुछ करना शेष नहीं रहता। **जो मुमुक्षु सिद्धत्व को प्राप्त करने के लिए निरन्तर साधना करते हैं, वे ही साधु कहलाते हैं।**

संसार और संसार के दुःखों का मूल कारण तो देहात्मबुद्धिरूप अज्ञान ही है। इसी अज्ञान का नामान्तर मिथ्यात्व है। जब तक इस अज्ञान (मिथ्यात्व) का नाश नहीं होता तब तक इस आत्मा को दुःख से छूटने का मार्ग प्राप्त होने की संभावना भी नहीं है तो मोक्ष प्राप्त होने का तो प्रश्न ही कहाँ उठता ?

देहात्मबुद्धिरूप मिथ्याबुद्धि का त्याग अर्थात् सम्यग्दर्शन का ग्रहण श्रमण संस्कृति के तत्वज्ञान का सार है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव ही वास्तविक धार्मिक है, साधक है, साधु है।

सम्यग्दर्शन ही सुखी जीवन की यथार्थ दृष्टि है। सम्यक्त्वी को ही आत्माभिमुखवृत्ति प्रगट होती है। सम्यक्त्वी ही सम्यक् प्रकार से अपने गुण-दोषों का अवलोकन करके आत्मिक गुणों का विकास करता है और अज्ञानजन्य दोषों का निराकरण पुरुषार्थ से करना प्रारंभ करता है। इस प्रकार शुद्धात्माभिमुख पुरुष ही जन्म-मरणादिक संसारिक अवस्थाओं का यथार्थ स्वरूप जानता है। इसलिए जीवन की लौकिक घटनाओं से उसे हर्ष, विषाद, दुःख

देह अथवा परद्रव्य के प्रति उसे आकर्षण शेष नहीं रहता। संसार का कोई भी पदार्थ उसके मन को रंजित नहीं करता।

सारांश यह है कि उसकी वृत्ति आत्मोन्मुख होती है। यही साधु-जीवन का सत्य स्वरूप है। भव्य जीवों के सौभाग्य से ऐसे आदर्श साधु महापुरूष यदाकदा उत्पन्न होते रहते हैं और वे सनातन सत्य परम्परा को अक्षुण्ण तो रखते ही हैं भविष्य के लिए भी उसे सुरक्षित बनाते हैं।

परन्तु आज पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से हमारे आध्यात्मिक जीवन का मूल्य विनाशोन्मुख होता जा रहा है। अहिंसा और त्याग का आदर्श पिछड़कर हिंसा और भोग का प्राबल्य हो रहा है। आत्मा को देव मानकर उसकी सेवा के लिए देह का उपयोग करने के बजाय देह को देव मानकर देह की सेवा के लिए आत्मा श्रम कर रहा है।

शिक्षण, कला, उद्योग, समाज, राज्यव्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों में भोग-प्रधान भौतिक सामग्री का नग्न नृत्य हो रहा है। शरीर में स्थित आत्मा को महत्व न देकर शरीरादि भौतिक सामग्री को ही महत्व दिया जा रहा है। यह सामग्री जिनके पास अधिक है, उन्हें श्रेष्ठ माना जा रहा है। मूल्य आत्मा का नहीं किंतु शरीरादि भौतिक सामग्री का ही आंका जाने लगा है।

इस प्रकार अक्षय आत्मा की महत्ता क्षयोन्मुख हो रही है। आत्मा का अस्तित्व ही संशय व अज्ञान के गहरे गड्ढे में प्रवेश कर रहा है। जिसको अपने आत्म-स्वरूप का पता नहीं है, वह दूसरों की आत्माओं और उनके मूल्यों को भला कैसे जान सकता है? निज

शुद्धात्मस्वरूप को जाने बिना अन्य अनुपयोगी-अप्रयोजनभूत वस्तु को जान भी ले तो उससे क्या लाभ ? निज शुद्धात्मा को न जाननेवाला ज्ञान व बाह्य क्रियाकाण्ड सच्चे सुख के लिए सर्वथा निरुपयोगी तो है ही, साथ ही अनर्थकारी भी है।

इस वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थकाल में भगवान ऋषभनाथ से लेकर भगवान महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकर, अनेक केवली, गणधर, ऋषि, मुनि आदि हुए हैं। भगवान महावीर के बाद तीन केवली और पाँच श्रुतकेवली हुए। उनमें अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय उत्तर भारत में बारह वर्ष का भीषण अकाल पड़ा, तब श्री भद्रबाहु स्वामी अपने शिष्यों के साथ दक्षिण भारत पहुँचे।

उस समय दक्षिण भारत में जैन परम्परा का उज्वल प्रकाश हुआ। और भगवान महावीर की दिव्य वाणी को लिपिबद्ध करने का श्रेय दक्षिण भारत के आचार्य परमेष्ठियों को प्राप्त हुआ; जिससे इस पंचमकाल के अंत पर्यंत धर्मप्रवर्तकों का दक्षिण भारत में होना और धर्म का दक्षिण भारत में जीवित रहना इसे नैसर्गिक वरदान ही मानना पड़ेगा।

भगवान महावीर के लगभग पाँच सौ वर्ष बाद अर्थात् विक्रम संवत् के प्रारंभ में उत्तर-दक्षिण भारत के समन्वयरूप अध्यात्मलोक-मुकुटमणि, आचार्य-कुलतिलकस्वरूप महापुरुष आचार्य कुन्दकुन्द का उदय हुआ। उन्होंने मानों प्रत्यक्ष केवली सदृश कार्य करके चार मंगलों में सहज रीति से स्थान पा लिया। इतना ही नहीं भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद प्रथम स्थान पर विराजमान होकर शोभायमान हुए। ऐसे अलौकिक महा-पुरूष के दिव्य चरित्र

का हमें अध्ययन अवश्य करना चाहिए। एवं उनकी सुखदायक साधना से परिचित होकर उसे अपने जीवन में यथाशक्ति प्रगट करने का मंगलमय कार्य करना चाहिए। अतः आइए प्रथम इनके जीवन के संबंध में अद्यावधि पर्यंत शोध-बोध से प्राप्त विषयों का ऐतिहासिक तथा तात्विक दृष्टिकोण से अवलोकन करें।

एक ओर घना जंगल और उसमें ही शिखर-समान शोभायमान उत्तुंग पर्वत, उन पर्वतों को पराभूत करके अपनी उन्नति को दर्शानेवाले गगनचुम्बी वृक्ष, दूसरी ओर समतल प्रदेशों में उगी हुई हरी-भरी घास का मैदान तथा इन दोनों के मध्य में मन्द मन्द प्रवाहमान स्वच्छ जल की निर्झरणी, ये सब एकत्र होकर निसर्ग सौन्दर्य के अत्यधिक वैभव को दर्शा रहे थे।

यह स्थान नगर के कृत्रिम जीवन से श्रान्त जीवों को स्वाभाविक, सुख-शान्तिदायक था। इस शांत तथा निर्जन स्थान में यदाकदा संसार, शरीर और भोगों से विरक्त अनेक साधुवर आकर उन पर्वतों की गुफाओं में बैठकर आत्मा की आराधना करते थे; अनुपम आत्मानंद भोगते थे।

लगभग पंद्रह वर्ष का कौण्डेश नामक ग्वाला था। यह एक भोला-भाला, सरलस्वभावी नवयुवक अपने स्वामी की गायों को लेकर उसी घास के मैदान में चरने के लिए छोड़ता था। और स्वयं उस निर्मल व मनमोहक निर्झरणी के पास विशाल शिलाखण्ड पर बैठकर प्रकृति के सौन्दर्य का रसपान किया करता था।

एक दिन कितने ही सुसंस्कृत नागरिकों को उस जंगल में आते हुए देखकर कौण्डेश को आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा :—"मैं

चार-पाँच वर्षों से यहाँ रोज आ रहा हूँ, पर ऐसे व इतने लोग कभी इस जंगल में आये नहीं--आज ये लोग क्यों आ रहे हैं ?" इस प्रकार कौतूहल से वन प्रदेश में पैदल रास्ते से जाते हुए उन लोगों को देखता हुआ खड़ा रहा। न जाने क्या सोचकर चरती हुई गायों को छोड़कर वह नवयुवक उन नागरिकों के पीछे चल पड़ा।

उस प्रौढ़ बालक के मन में चलते समय अनेकानेक विचार उत्पन्न हो रहे थे--"कोमल कायावाले ये धनवान लोग कांटों-पत्थरों से भरी हुई भूमि पर नंगे पांव चलते हुए और गर्मी के कारण चलनेवाली लू की भी चिंता न करते हुए जा रहे हैं, अतः यहाँ कोई न कोई महत्वपूर्ण पवित्र स्थान अवश्य होना चाहिए। अन्यथा ये बड़े और सुखी लोग यहाँ क्यों आते ? " इस प्रकार विचार करता हुआ कौण्डेश आगे बढ़ रहा था।

इतने में ही सामने एक उच्च शिलाखण्ड पर एक दिगम्बर महामुनीश्वर दिखाई दिये; उनके पास पहले से ही कुछ लोग बैठे थे। ये लोग भी वहीं जाकर बैठ गये। सभी लोग अपने सर्वांग को मानो कान ही बनाकर अत्यंत एकाग्र चित्त से साधु महाराज का उपदेश सुन रहे थे। और उपदेशदाता की वीतराग, शांत, गंभीर मुखमुद्रा को देखकर अति आनंदित हो रहे थे। अपने कान तथा आँखों को सफल समझ रहे थे।

प्रातः काल से सन्ध्यापर्यंत गायों के साथ ही एकमेक होकर प्रकृतिकी गोद में अपना जीवन व्यतीत करनेवाले उस नवयुवक को उन लोगों की रीति-रिवाज का पता नहीं था। इस कारण कौण्डेश आश्चर्यचकित होकर वहीं एक वृक्ष की ओट में खड़े होकर उन महामुनिराज के अमूल्य वचनों को एकाग्र चित्त से सुन रहा था।

यथार्थ व अनादिनिधन वस्तुस्वरूप तथा भगवान आत्मा के शुद्धात्मनिरूपक स्पष्ट, मधुर व महान उपकारी उपदेश उस ग्वाले के स्वच्छ मनमंदिर में समा रहा था। इस समय "मैं ग्वाला हूँ गायों का संरक्षण संवर्धन, पालन-पोषण करना मेरा कार्य है" इत्यादि अपनी तात्कालिक पर्याय-अवस्था का उसे सर्वथा विस्मरण हो गया था। संतोषामृत से तृप्त महायोगी के उपदेश सुनने के लिए ही मेरा जीवन है, ऐसी भावना उसके मन में जन्म ले रही थी।

उपदेश समाप्ति पश्चात् सभी सभ्य समागत श्रोता तो चले गये, तथापि कौण्डेश उपदेशित विषय के चिन्तन में ही मग्न होने से पेड़ की तरह वहीं खड़ा रहा। कुछ समय बाद मानों नींद में से ही जागृत हो गया हूँ —ऐसा उसे लगा। देखता है तो सूर्य उस दिन की अपनी यात्रा समाप्त करके आकाश के पश्चिमी छोर से समस्त विश्व को अरूण किरणों से आवृत कर रहा हो। मानों दिगम्बर साधु के होनेवाले वियोग से वह स्वयं दुःखी हो रहा हो। अज्ञानी लोग आनेवाले गाढ़ अन्धकार को न जानकर मनमोहक कोमल अरूण किरणों में ही मोहित हो रहे थे।

कौण्डेश वहाँ से गायों के पास आया और उन्हें हाँककर घर ले जाने लगा। इतने में बहुत जोर से वर्षा होने के कारण वह सम्पूर्ण भीग गया। प्रतिदिन गायों को गो-शाला में बांधकर भोजन करके सो जानेवाला वह ग्वाला आज कुछ भी खाये-पिये बिना ही सो गया।

सो तो गया; लेकिन रातभर उसे नींद नहीं आयी। वह मुनिमहाराज के उपदेश का ही चिन्तन-मनन करता रहा। अपनी बालबुद्धि के अनुसार सत्यासत्य का निर्णय करने की चेष्टा में निमग्न

हो गया । यदि वस्तुस्वरूप मुनिमहाराज के उपदेशानुसार है तो मानव का दिन-रात चलनेवाला प्रयत्न क्या इन्द्रजाल है ? यदि आत्मा शाश्वत है तो जन्म-मरण का क्या अर्थ है ? इस प्रकार चिन्तन करते-करते प्रातःकाल हो गया ।

सुबह के काम के लिए कौण्डेश उठा ही नहीं । उलझन भरे भावना लोक में विचरते हुए उसे बाह्य जगत की कुछ परवाह नहीं थी । अतः उसे ढूंढते-ढूंढते उसका मालिक गोशाला में आ गया । उसने लेटे हुए कौण्डेश के शरीर पर हाथ रखा तो उसे गरम लोहे पर हाथ रखने का सा अनुभव हुआ । कौण्डेश ज्वर-पीड़ित था क्योंकि शरीर बारिश में भीग गया था, रातभर नींद भी नहीं आई थी । मालिक को भय-सा लगा । उसने शीघ्र ही वैद्यों को बुलाकर उपचार कराया। अनेक प्रयत्न करने पर भी ज्वर सप्ताह पर्यंत उतरा ही नहीं । कौण्डेश बहुत अशक्त हो गया । ज्वर उतरने के एक सप्ताह बाद भी गायों को चराने के लिए वह जंगल में नहीं जा सका ।

इन दो सप्ताहों के अन्तराल में केवल कौण्डेश के शरीर और विचारों में ही परिवर्तन हुआ हो ऐसा नहीं किंतु जंगल की स्थिति भी आमूलचूल बदल गयी थी । निसर्ग-प्रकृति मानव की इच्छानुसार रहे-ऐसा बिल्कुल नहीं है । जड़पुद्गलों की सत्ता-अस्तित्व भी स्वतंत्र है । उनमें परिवर्तन भी स्वतंत्र ही होता रहता है । उस परिवर्तन के लिए किसी परिवर्तनकार भगवान की अथवा विशिष्ट मानव की अनादि काल से आवश्यकता ही नहीं है । क्योंकि अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती रहती हैं ।

कौण्डेश दो सप्ताह के बाद गायों के साथ उसी पुरानी जगह जाकर देखता है कि हरे-भरे वृक्षों से भरा वह कानन आग की चपेट में आकर श्मशान सदृश भस्मीभूत हो गया है। वृक्षों की शाखाओं में घर्षण हो जाने से उत्पन्न अग्नि सम्पूर्ण अरण्य की आहुति ले चुकी थी। शिकायत भी किससे करें ? कौन सुनेगा ?

प्रत्येक जड़-चेतन वस्तु में उनकी योग्यता के अनुसार ही सतत परिवर्तन होता रहता है। ज्ञानी जीव इस स्वाभाविक परिवर्तन को सहज स्वीकार करके सुखी रहता है और अज्ञानी व्यर्थ ही राग-द्वेष करके दुःखी होता है। इस विश्व में किसी भी जीव को अन्य कोई जीव अथवा जड़ पदार्थ सुखी-दुःखी कर ही नहीं सकते, यह तो त्रिकालाबाधित सत्य है।

जंगल में सर्वत्र दृष्टिपात करने से यहाँ-वहाँ केवल पर्वत के शिखर ही दिखाई दे रहे थे। एक भी वृक्ष का नामोनिशान नहीं था। आश्चर्यचकित उस बाल-ग्वाले ने चारों तरफ नज़र घुमाकर देखा तो पास ही में किसी एक वृक्ष का तना-सा दिखाई दिया। तथापि उसे विश्वास नहीं हुआ –कोई चट्टान-सी लगी। इस दावानल में वृक्ष का तना कैसे सुरक्षित रह सकता है ? इसी संदेह के साथ वह आगे बढ़कर देखता है तो वह एक विशाल वृक्ष का तना ही था। इसके ऊपरी भाग को कब किसने काटा था, सर्वज्ञ ही जाने। वह तना आग की लपेट में न आकर पूर्ण सुरक्षित बच गया था। यह जानकर कौण्डेश को परम आश्चर्य हुआ।

इस विशाल भयंकर वन को किसने जलाया और वृक्ष के मात्र इस तने को किसने बचाया ? काल की गति विचित्र है। प्रत्येक

वस्तु का स्वभाव स्वतंत्र व अद्‌भुत है। वह कानन अपनी योग्यता से जल गया और यह तना अपनी योग्यता से बच गया। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है-ऐसा सोचकर उसका ध्यान १५ दिन पूर्व सुने हुए मुनिराज के उपदेश की ओर चला गया।

जंगल में साधु महापुरुष ने द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता की बात कही थी। वह कथन सर्वथा सत्य है। हम उस स्वतंत्रता को न मानते हुए अपने अज्ञान से अपना ही अहित कर रहे हैं।

इस प्रकार सोचता हुआ कौण्डेश उस वृक्ष के तने के पास पहुँचकर देखता है कि तने के कोटर में ताड़पत्र सुरक्षित हैं। ताड़पत्रों को बाहर निकालकर देखते ही पता चलता है कि ये केवल ताड़पत्र ही नहीं लेकिन ताड़पत्रों पर शास्त्र लिपिबद्ध हैं। ग्वाले ने सोचा - इस शास्त्र की सुरक्षा हो इस कारण से ही यह तना बच गया है, अन्यथा यह कैसे संभव था ?

उसे याद आया कि आत्मा के चिर-अस्तित्व का निरूपण करते हुए उस दिन मुनीश्वर ने कहा था : आत्मा धूप से नहीं मुरझाता, जल में नहीं भीगता, अग्नि से नहीं जलता, तीक्ष्ण धारवाले खड्‌ग से नहीं भेदा जा सकता—इस शास्त्र में भी ऐसे ही आत्मा का विवेचन होगा इसलिए ऐसी भयंकर अग्नि में भी यह सुरक्षित रह गया है।

'परम शांत मुद्राधारी उन मुनिमहाराज ने मुझे मेरी आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझाया है। अतः मुझे भी उन्हें यह अदाह्य—न जलनेवाला अमूल्य ग्रंथ देकर कृतार्थ होना चाहिए। इससे गुरू के मुख से शास्त्र सुनना सार्थक हो जायेगा। मेरी कृतज्ञता भी व्यक्त होगी' इसी निर्णय के साथ कोण्डेश वन में मुनिमहाराज को खोजने लगा।

किसी विशिष्ट साधन के बिना ही "यहाँ होंगे, वहाँ होंगे" इस प्रकार सोचते हुए ढूंढते हुए अनेक छोटे-बड़े पर्वत शिखरों पर चढ़कर फिर उतरकर अनेक गिरि कन्दराओं में अन्दर जाकर देखा, पर कहीं भी मुनीश्वर का संकेत भी नहीं मिला । उसीसमय ग्वाले को गायें कहीं चली न जाएँ—ऐसा भय भी लगा, पर तत्काल ही यह विचार भी आया कि--

प्रत्येक पदार्थ अनादि से स्वयं से है—स्वयंभू है । तथा उसका परिणाम भी स्वतंत्र है । एक पदार्थ के परिणमन में अन्य किसी पदार्थ की कुछ भी आवश्यकता नहीं है । इस विश्व में सब स्वतंत्र हैं । अज्ञानी वस्तुस्वरूप को न जानने से व्यर्थ ही दुःखी होता है । इस चिरंतन सत्य तत्व के स्मरण से उसे संतोष हुआ और पुनः उत्साह से गिरि-कन्दरों में मुनिराज को खोजने लगा ।

इसी प्रकार कौण्डेश अनेक गिरि कन्दराओं पर चढ़ता-उतरता चला जा रहा था । इसी बीच सूर्य की प्रखर उष्णता में एक शिला पर विराजमान ध्यानस्थ मुनीश्वर के पावन दर्शन हुए । आनंद विभोर होकर वह अतिशीघ्रता से मुनिराज के पास पहुँचा । उसने तत्काल जान लिया कि ये सच्चिदानन्द, ज्योतिपुंज, शांत, गंभीर तथा विशेष सौम्य मुद्राधारी वे ही मुनीश्वर हैं, जिन्होंने मुझे आत्मबोध दिया था। उसने साधु महापुरूष को अत्यन्त भक्तिभाव से साष्टांग नमस्कार किया ।

तब अतीन्द्रिय आनंद में लवलीन अर्थात् शुद्धोपयोग से शुभोपयोग की ओर आने वाले मुनिराज ने अवनि और अम्बर के मध्य में स्थित कोमल किरण सहित बालभास्कर के समान अत्यन्त

मनोहारी, सुखदायक अपने नेत्रयुगलों को खोलकर देखा। मात्र भगवान आत्मा को ही देखने की प्रवृत्ति वाले उन मुनिराज को कौण्डेश मक्खी के पंख से भी पतले परदे में आवृत्त ज्ञाननिधि ही दिखाई दिया। मुनिराज के आर्शीवाद रूपी जल से अभिषिक्त कौण्डेश ने अत्यन्त विनम्र एवं पूर्ण भाव से मुनि पुंगव से निवेदन किया :–

"हे प्रभो ! आपके उपदेशामृत के फलस्वरूप स्वयमेव प्राप्त हुआ यह ग्रंथ आप स्वीकार करके मुझे कृतार्थ करें" ऐसा कहकर उसने ताड़पत्र-ग्रंथ को मुनिराज के पवित्र करकमलों में अति विनम्रभाव से समर्पित किया। इस शास्त्रदान के फलस्वरूप ज्ञानावरण कर्म पटल हटते गये-ज्ञान विकसित होता गया।

दैवयोग से प्राप्त उस ग्रंथ-निधि को मुनिराज को समर्पित कर कौण्डेश जहाँ गायें चर रही थीं उस स्थान की ओर तत्काल शीघ्र गति से चला। तथा सूर्य कौण्डेश से भी तीव्रतर गति से पश्चिम की ओर गमन कर रहा था। सूर्यास्त से पहले ही गायों को लेकर घर पहुँचने की आशा से कौण्डेश क्रमशः आनेवाले सभी पर्वतशिखरों पर चढ़-उतर कर गायों के पास पहुँच गया। उस समय सूर्यास्त होकर अन्धकार छा रहा था। कौण्डेश को देखकर सभी गायों ने रंभाकर उसका स्वागत किया। उसका संकेत पाकर सभी गायें घर की ओर जाने लगीं।

समय रात्रि का था। कौण्डेश गायों के पीछे-पीछे चलता हुआ दिन में घटित घटनाओं का स्मरण कर रहा था। गांव के निकट एक वृक्ष के कोटर में से कुछ आवाज आई, जिससे डरकर गायों

का झुंड भागने लगा। अपने पाँव से किसी एक चीज को झटकाकर एक गाय भाग गयी। गायों के पीछे आनेवाले कौण्डेश को किसी मुलायम चीज के ऊपर पाँव रखने का-सा आभास हुआ; वह जोर से चिल्ला उठा और वहीं गिर गया। वहाँ से गुजरनेवाले एक व्यक्ति ने नजदीक जाकर प्रकाश द्वारा देखा तो ज्ञात हुआ कि कौण्डेश को साँप ने काट लिया है, तथा उसके पैर से खून बह रहा है।

गांव के पास वाली चट्टान पर ही यह घटना घटी थी। अतः थोड़े ही समय में यह समाचार गांव भर में फैल गया। मालिक घबड़ाकर भागता हुआ घटनास्थल पर आया और कौण्डेश को घर ले गया। वैद्यों ने उसे बचाने का अत्यधिक प्रयास किया। मंत्र-तंत्र भी किये गये; पर, कौण्डेश जीवित नहीं रह सका। अंतिम श्वास लेते समय भी उसने कहा-"मैं नहीं मरंता। मैं तो अजर-अमर हूँ। मैं आत्मा हूँ और मुझे जन्म-मरण है ही नहीं। मैं अनादि-अनंत ज्ञान व सुखमय भगवान आत्मा हूँ।" इस प्रकार हकलाते हुए बोलकर वह सदा के लिए मौन हो गया। कौण्डेश की निर्भयता, बुद्धिमत्ता और दृढ़ता जानकर गाँव के सभी लोग आश्चर्यचकित हुए। प्रतिष्ठित पुरूष की भाँति उसका अंतिम संस्कार किया गया।

वर्तमान में आन्ध्रप्रदेश के अंतर्गत आने वाले अनंतपुर जिले के गुटि तहसील में कोनकोण्ड़ नामक गांव है। यह गांव गुंतकल रेल्वे स्टेशन से दक्षिण दिशा में पॉच किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। प्राचीन शिलालेखों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह गांव पहले कर्नाटक राज्य में था।

प्राचीन काल में कोण्डकुंद या कोण्डकुन्दे नामक एक वहुत वड़ा शहर था[१], जहाँ वर्तमान में इसी नाम से छोटा सा ग्राम है; गांव के निकट लगभग १५० फीट ऊँचा एक पर्वत है जिसके ऊपर एक ही नीम का वृक्ष है। इसी वृक्ष के पास साढ़े तीन फीट ऊँची अरहंत भगवान की दो खडगासन मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों के मस्तक के ऊपर पाषाण में उकेरे हुए तीन-तीन छत्र हैं। और दोनों तरफ चामरधारी देव खड़े हैं। मूर्ति के नीचे कोई भी चिन्ह नहीं है, अतः किन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं यह कहना असंभव है। इन मूर्तियों की रक्षा के लिए तीनों तरफ पाँच पाँच फीट ऊँची दीवार वनी हुई है, जिन पर छत नहीं है। यहाँ के लोग इन मूर्तियों को सिद्धस्वामी कहते हैं और वैदिक सम्प्रदाय के अनुसार पूजा होती है। यहाँ गांव में अथवा क्षेत्र पर एक भी जैन नहीं है।

इन मूर्तियों से लगभग ३० फीट की दूरी पर एक समतल विशाल शिलापर जम्बूद्वीप का खुदा हुआ सुन्दर नक्शा है और वहीं दूसरे शिलापर करीब छह फीट लम्बा दिगम्बर मुनि का खड्गासन रेखाचित्र है, जिसके नीचे पत्थर में खुदा हुआ कमल पुष्प है। आचार्य कुन्दकुन्द देव के स्मरणार्थ इसे वनाया गया होगा—ऐसा लगता है।

यहाँ रहनेवाले लोगों से पूछा तो चर्चा से यह बात समझ में आई कि उन्हें जैनत्व का कुछ भी परिचय नहीं है। ये लोग इस छोटी-सी पहाड़ी को सिद्धस्वामी का निवास स्थान कहते हैं। सिद्धस्वामी के विषय में पूछने पर कहते हैं—समय पर वर्षा न हो तो इस पहाड़ी पर आकर पूजा-प्रार्थना करने से वर्षा होती है। तथा किसी परिवार

१. श्री पी. बी. देसाई द्वारा लिखित "जैनिज्म इन् साउथ इंडिया एण्ड जैन एफिग्राफ्स" पृष्ठ-१५२ से १५७ उद्धृत

में किसी के ऊपर कुछ दुःख संकट आनेपर सिद्ध स्वामी की भक्ति करने से दुःख-संकट दूर हो जाते हैं। इस पहाड़ी के ऊपर अथवा आस-पास के प्रदेशों में जो भी चोरी-हिंसा आदि पाप करता है उसे कोई न कोई संकट अवश्य आ जाता है।

इस तरह इस क्षेत्र के सम्बन्ध में वहाँ के लोगों की भक्ति-श्रद्धा जानकर हमें आश्चर्य हुआ। इस स्थान को हमें दिखाने आए हुए गरीब, युवा लोगों को दयाभाव से कुछ रूपये देने का प्रयास किया तो उन्होंने "सिद्धस्वामी के दर्शनार्थ आनेवाले लोगों से हम पैसा लेंगे तो हमारा जीवन दुःखमय तथा बर्बाद हो जायगा—हमें पाप लगेगा"— ऐसा कहकर रुपये लेने से इन्कार कर दिया।

इन सभी घटनाओं के निरीक्षण से इस क्षेत्र की महिमा आज भी जन-मानस में जीवित है—यह स्पष्ट हुआ।

यहाँ प्राप्त प्राचीन अवशेषों से ज्ञात होता है कि यह प्रदेश प्राचीन काल में जैनों का केन्द्र रहा था। यहाँ के चन्नकेश्वर मंदिर के पास जमीन पर एक शिलाखण्ड पड़ा है। उसके ऊपर जैन तीर्थकरों की पद्मासन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। उसी के नीचे अति कष्टपूर्वक पढ़ने लायक शिलालेख है। इस शिलालेख के प्रारंभ में जिनेन्द्र भगवान की प्रार्थना खुदी हुई है, जो इस क्षेत्र की महिमा को व्यक्त करनेवाली जानकारी देती है। उस पर आगे लिखा है :—यह स्थान विश्व में सर्वश्रेष्ठ है। संसार-सागर को पार करने के लिए नौका समान अनेकांत विद्या है। उस विद्या के बल से विश्व को जीतने वाले यति श्रेष्ठपद्मनंदि भट्टारक की यह जन्मभूमि है।

इस शिलालेख के दूसरे बाजू पर तेलगू भाषा में भी शिलालेख है। अनेक लेख प्राचीन भाषा में भी उपलब्ध हैं। यहाँ ही ईसा की

७ वी. शताब्दी और १०-११ वीं शताब्दी से संबंधित शिलालेख भी देखने को मिलते हैं। इसमें से अनेक शिलालेख जैनधर्म विषयक भी हैं। १६ वीं शताब्दी से संबंधित शिलालेख में न्याय-शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आचार्य विद्यानंद स्वामी का भी उल्लेख है।

इस गांव के दक्षिण में एक चट्टान पर तीन फीट ऊँची एक नग्न मूर्ति है। उसके पास ही अनेक शिलाखण्ड हैं, जिनके ऊपर जैनधर्म से संबंधित अनेक चिन्ह खुदे हुए हैं। समीप ही एक स्वच्छ जलाशय-सरोवर भी है। इस प्रकार यह स्थान अपने प्राचीन वैभव को तथा त्याग और तपस्या की महिमा को आज भी झलकाता है।

परन्तु खेद की बात यह है कि किसी भी जैन संस्था अथवा भट्टारक पीठ ने यहाँ धर्मशाला, पुजारी आदि की कुछ भी व्यवस्था नहीं की है। आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी वर्ष के निमित्त से कुछ व्यवस्था विषयक कार्य यहाँ बनना चाहिए।

अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी अकाल के कारण अपने शिष्यों के साथ दक्षिण भारत आये थे, इस कारण उस काल में दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार तीव्र गति से हुआ था। लगभग सभी राजवंश जैनधर्मावलंबी थे और वे अपने-अपने राज्य में जैन संस्कृति की प्रभावना करने में गौरव का अनुभव करते थे। उसी समय जिनकंची और पेनगोंडे[1] इन दोनों क्षेत्रों पर समर्थ जैन

---

१. दोनों जगहों के दि. जैन मंदिर अभी भी सुरक्षित हैं; लेकिन जैन संस्था के अन्य भवनों पर अजैनों का कब्जा है। पेनगोंडा का जैन भवन आज मस्जिद बन गया है। दोनों जगह एक भी जैनी का घर नहीं है। पेनगोंडे मंदिर में पार्श्वनाथ की मूर्ति अत्यन्त मनोज्ञ है। तथापि व्यवस्था अच्छी नहीं है। जिनकंची का मंदिर ई.सं. पूर्व ५वीं शताब्दी का है—ऐसा इतिहास मिलता है। यहाँ के पुजारियों के पास सौ से भी अधिक ताड़पत्र ग्रंथ हैं। ये सभी ग्रंथ ग्रंथि लिपि में लिखे गये हैं।

संस्थाओं की स्थापना की गई थी। इन संस्थाओं के कारण दक्षिण भारत में तत्वप्रचार का कार्य विशेष हो रहा था। अतः ई. सं. पूर्व तीसरी शताब्दी में जैनधर्म दक्षिण भारत में विशेष उन्नत अवस्था को पहुँच चुका था। अनेक दिगम्बर महामुनीश्वर भी सर्वत्र विहार करके वस्तुधर्म-सत्य सनातन, वीतराग जैनधर्म का उपदेश करते थे। और स्वयं साक्षात् जीवंत सत्य-धर्म स्वरूप समाज के सामने विचरण करते थे।

कोण्डकुन्दपुर जैनों का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ पेनगोंडा संघ के मुनिराजों का विहार पुनः पुनः होता था एवं मुनिश्वरों के निमित्त से तत्वचर्चा, धर्मोपदेश एंव पण्डितों के प्रवचन भी होते रहते थे।

नगरसेठ गुणकीर्ति मुनियों की सेवा-सुश्रुषा में अत्यधिक रुचि लेते थे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शान्तला भी पति के समान धर्मश्रद्धालु नारीरत्न थीं। पूर्व पुण्योदय के कारण उनको किसी भी प्रकार के भौतिक वैभंव की कमी नहीं थी। रूप-लावण्य, यौवन, कीर्ति और संपदा सभी से सुसम्पन्न होने पर भी उन्हें अपने वंश के उत्तराधिकारी पुत्ररत्न का अभाव खटकता था और यह अभाव दोनों को भस्मावृत अंगारे के समान सतत जलाता रहता था। गुरूमुख से संसार-स्वरूप का वर्णन सुनकर कुछ क्षण के लिए अपना दुःख भूल जाते थे, परन्तु दूसरे ही क्षण पुत्र का अभाव उन्हें पीड़ा देता था। ऐसा होने पर भी पुत्र-प्राप्ति के लिए कुदेवादि की शरण में तो गए ही नहीं, लेकिन ऐसा अज्ञानजन्य अन्यथा उपाय का विचार भी उनके मन में नहीं आया। फिर किसी से प्रार्थना करना तो दूर की बात है।

वे दोनों पति-पत्नी वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी सच्चे देव के स्वरूप को निर्णयपूर्वक जानते थे। कोई किसी को अनुकूल-प्रतिकूल

वस्तुयें दे नहीं सकता, कोई वस्तु जीव को सुख-दुःख दाता है ही नहीं। अनुकूलता-प्रतिकूलता तो पूर्वकृत पुण्य-पाप कर्मोदय का कार्य है। ऐसा वस्तुस्वरूप का उन्हें यथार्थ तथा निर्मल ज्ञान था तथापि पुत्र का अभाव उन्हें अन्दर ही अन्दर शल्य की तरह खटकता था।

कालचक्र अपने स्वभाव के अनुसार गतिमान था ही। उसे कौन और कैसे रोकेगा? और काल रुकेगा भी कैसे? सेठ गुणकीर्ति और सेठानी शाँतला तत्वचिन्तनपूर्वक पूर्व-पुण्योदयानुसार अपना जीवन यापन करते थे। इसी बीच पेनगोंडा से एक समाचार आया "फागुन की अष्टाह्निका महापर्व में पूजा, महोत्सव के साथ करने का निर्णय किया है—आप दोनों इस धर्म कार्य में जरूर आवें। प्रवचन, तत्वचर्चा तथा भक्तिआदि का लाभ लेवें। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे अवसर का लाभ लेना चाहिए" इस प्रकार का समाचार था।

समाचार जानकर गुणकीर्ति सेठ को विशेष आनन्द हुआ। "हम उचित समय पर पेनगोंडे पहुँचेगे"- ऐसा संदेश पत्रवाहक के द्वारा भेज दिया। और निश्चित समय पर पेनगोंडे पहुँच गये।

जिस प्रकार स्वर्ग के देव नन्दीश्वर द्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयों की अष्टाह्निका पर्व में पूजा करते हैं, उसीप्रकार गुणकीर्ति और शान्तला ने पेनगोंडे के पच्चे श्री पार्श्वनाथ भगवान की आठ दिन में महामह नामक पूजा की। अष्टाह्निका पर्व में ही योगायोग से आचार्य श्री जिनचन्द्र से अध्यात्म-विषय सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसकारण दोनों को मानसिक समाधान तो प्राप्त हुआ ही साथ ही तत्वदृष्टि अधिक निर्मल व दृढ़ बन गयी। पर्वोपरान्त चतुर्विध संघ को आहारदान एवं शास्त्रदान देकर संतृप्त मन से वे घर लौटे।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन भगवान महावीर की जन्म-जयन्ती अपने गाँव में धूम-धाम से मनाकर चतुर्विध संघ को भक्ति से आहार और शास्त्रदान दिया। तदनन्तर अक्षय तृतीया को चतुर्विध संघ को चार प्रकार का दान दिया। अन्य दिनों में भी यथाशक्ति भक्तिपूर्वक श्रावक के योग्य देवपूजा आदि पुण्यकार्यों में सहज सावधान रहते थे। इस तरह तीन माह केवल धर्म-श्रद्धा से अर्थात् आत्माशान्ति और भौतिक सुख से निरपेक्ष परिणामों से धर्म-साधना करते रहे। इनका फल उन्हें शान्ति व समाधान तो मिला ही एवं पुत्र अभावजन्य जो आकुलता थी, वह भी नहीं रही। दृष्टि एवं ज्ञान सम्यक् हो जाने से-लौकिक कामनाएँ स्वयमेव लुप्त हो गईं। प्रकाश के आगमन से अंधकार का निर्गमन स्वयमेव होता है, उसे भगाना नहीं पड़ता।

सेठ गुणकीर्ति और शांतला के दिन तत्त्वचिंतवन के साथ सुखपूर्वक व्यतीत हो रहे थे। एक दिन पिछली रात्रि के समय शांतला ने दो स्वप्न देखे—प्रथम स्वप्न में एक धवल, पुष्ट एवं सुन्दर बैल अपने मुख में प्रवेश करता हुआ देखा। दूसरे स्वप्न में आकाश के ठीक मध्य में अपनी अतिशीतल व कोमल किरणों से समग्र पृथ्वीतल को शुभ्र बनाता हुआ पूर्ण मनोहर अमृतमय चंद्र का अवलोकन किया।

स्वप्न पूर्ण हुए और निद्रा भंग होने से शांतला जाग गयी। समीप ही सोये हुये पति गुणकीर्ति को निद्रित अवस्था में ही छोड़कर वह शयन गृह से बाहर आयी। स्नानादि नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर धवल वस्त्र पहनकर अपने गृह—चैत्यालय में प्रवेश किया। वीतराग-सर्वज्ञ प्रभु का भक्तिभावपूर्वक दर्शन कर पूजन की, नित्य नियमानुसार जाप किये। इतने में ही गुणकीर्ति दर्शन के लिए चैत्यालय में आये।

पश्चात् प्रतिदिन की भाँति स्वाध्याय प्रारंभ हुआ। जीवतत्व का प्रकरण चल रहा था। योगानुयोग से आज विषय सुलभ रीति से स्पष्ट हुआ। केवली भगवान द्वारा प्रतिपादित भगवान आत्मा की बात सचमुच अलौकिक ही है–ऐसा दोनों को हृदय से जंचा।

स्वाध्याय समाप्त करके शांतला अपने कक्ष में जाकर आसन पर बैठ गई। सोचने लगी–मुझे मेरा पुण्योदय ही समझना चाहिए कि योग्य पति का संयोग मिला, अन्यथा जीवन दुःखद हो जाता।

आज शांतला के मुख पर एक अपूर्व कांति झलक रही थी और अलंकार भी विशेषरूप से शोभायमान हो रहे थे। गुणकीर्ति भी सहजभाव से शांतला के कक्ष में आकर बैठ गये। मधुर हास्य से शान्तला ने गुणकीर्ति का स्वाभाविक स्वागत किया और प्रमोद व्यक्त करते हुए कहने लगी "हे प्राणप्रिय ! मैंने आज अर्धरात्रि के पश्चात् दो स्वप्न देखे हैं।" तदनन्तर शान्तला ने उन स्वप्नों का सानंद सविस्तार वर्णन किया और जिज्ञासा से फल पूछा।

गुणकीर्ति कुछ समय पर्यन्त किंचित् गंभीर हुए। निर्णय मात्र के लिए आँखें बंद करके कुछ विचार किया और पत्नी की ओर देखते हुए स्वप्न-फल कहना प्रारंभ किया। "हे प्रिये ! ये स्वप्न हमारी बहुत दिनों की इच्छा को पूरी करने वाले हैं। धवल वृषभ का प्रवेश धर्म दिवाकर स्वरूप पुण्यवान जीव तुम्हारे गर्भ में आया है-यह सूचित करता है। और चंद्रमा की चाँदनी यह स्पष्ट करती है कि उस धर्म-दिवाकर के उपदेश से भव्य जीवों को सुख-शांति का मार्ग प्राप्त होगा।

स्वप्नश्रवण से प्रमुदिता शान्तला अपने पति से निवेदन करती है। प्राणनाथ ! मुझे पेनगोंडे जाकर पार्श्वनाथ भगवान के दर्शन

करने की तथा आचार्य जिनचंद्र के दर्शन करने की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हुई है। कृपया शीघ्र व्यवस्था कीजिए, मेरा जीवन धन्य हो जायेगा।

दूसरे ही दिन पति-पत्नी दोनों पेनगोंडे पहुँच गये। वहाँ भगवान पार्श्वनाथ की अत्यंत भक्ति से पूजा की और भक्ति तथा कृतज्ञतापूर्वक आचार्य जिनचंद्र के दर्शन किए। अत्यन्त विनय से और उत्कंठित भाव से शान्तला देवी ने स्वप्न समाचार बताया। अष्टांग निमित्तज्ञानी आचार्य ने स्वप्नफल सुनाया।

"आपके गर्भ से आसन्न भव्य जीव जन्म लेनेवाला है। वह तीर्थंकर द्वारा उपदेशित अनादि-अनंत, परमसत्य, वीतराग धर्म का प्रवर्तक बनेगा। और विशेष बात यह है कि भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उसका ही नाम प्रथम लिया जायगा। इसकारण यह कोण्डकुन्दपुर-नगर इतिहास में प्रसिद्ध होगा। पतितोद्धारक यह महा-पुण्यवान जीव जब पूर्वभव में कौण्डेश नामक ग्वाला था, तब उसने एक दिगम्बर मुनीश्वर को शास्त्रदान दिया था। उस दान के पुण्य-परिणामस्वरूप ही कोण्डकुन्द नगर में वह तुम्हारे यहाँ जन्म ले रहा है। यह अपूर्व योग है।"

" **प्रत्येक जीव को अपने परिणामों का फल मिलता है** " यह त्रिकालाबाधित सिद्धान्त सहज रीति से समझ में आता है। ऐसा सातिशय पुण्यशाली जीव आपके वंश में जन्म लेगा इससे आपके पवित्र परिणामों का भी परिचय होता है। ३०-३२ वर्ष के इस दीर्घ जीवन में इन तीन महीनों में शास्त्रदान के जैसे उत्साही भाव परिणाम हुए वैसे परिणाम पहले कभी आपके मनोमंदिर में हुए थे क्या ? इस

पुण्यवान जीव का आपके गर्भ में आगमन और शास्त्रदान का परिणाम इन दोनों में ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। तथापि उस जीव का आगमन तथा शास्त्रदान के आपके परिणाम पूर्ण स्वतंत्र हैं।

"जन्म लेनेवाले जीव के परिणाम और माता-पिता के परिणाम दोनों स्वतंत्र हैं। प्रत्येक जीव अथवा अन्य किसी भी पदार्थ में होनेवाला परिणाम उस-उस पदार्थ की योग्यता से ही होता है। इसमें कोई किसी का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। इस वस्तुस्वरूप का परिज्ञान नहीं होने से अज्ञानी पर पदार्थ का अपने को कर्त्ता मानता है –"मैंने किया" ऐसा मानता-जानता है। ऐसे मिथ्या अभिप्राय से ही दुःखी होता है। तीन महीनों में की गयी धर्माराधना के फलस्वरूप पुत्रोत्पत्ति होगी ऐसा समझना भ्रान्ति है। धर्माराधना के समय आपके मन में कोई भी लौकिक अनुकूलता मिले ऐसी आशा-आकांक्षा भी नहीं थी।"

धर्माचरण निरपेक्ष भाव से ही किया जाता है। शास्त्र का स्वाध्याय न करने के कारण लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते और अधर्म को धर्म मानकर अपना अहित करते रहते हैं। अपने परिणामों को सुधारने के स्थान पर बाह्य क्रियाकाण्ड में ही डुबकियाँ लगाते रहते हैं। जीव का बिगाड़-सुधार तो अपने परिणामों पर निर्भर है, न कि बाह्य क्रियाओं पर। धर्म तो अन्दर अर्थात् आत्मा की अवस्था में होता है- (अंतरंग में होता है।) अंतरंग के परिणामों के अनुसार बाह्य क्रियाएँ स्वयमेव सुधरती हैं। भाव बदलने पर भाषा, भोजन एवं भ्रमण स्वयमेव बदलते जाते हैं। बाह्य क्रिया के लिए हठ रखना कभी भी योग्य/अनुकूल नहीं। खींचकर की गई क्रिया धर्म नाम नहीं पाती।

"भो श्रेष्ठवर ! अपने पुण्य परिणामों से पुण्यात्मा आपके घर में जन्म लेगा – ऐसा जानना-मानना भी व्यवहार है, वास्तविक वस्तुस्थिति नहीं है । एवं पच्चे पार्श्वनाथ भगवान की महिमा के कारण अथवा हमारे आशीर्वाद से पुत्र-प्राप्ति मानना भी अज्ञान ही है । क्योंकि परभव में से निकलकर इस भव में जन्म लेना अपने पुण्य-पाप और योग्यता के अनुसार होता है । यथार्थ वस्तुस्वरूप समझना प्रत्येक व्यक्ति का निजी महत्वपूर्ण कर्तव्य है । ऐसे अपूर्व तत्वज्ञान की प्राप्ति से ही जीव को सुख-शान्ति मिलती है ।"

आचार्य श्री जिनचंद्र के उपदेश से दोनों के ज्ञान तथा श्रद्धा में विशेष निर्मलता तथा दृढ़ता आई । वीतराग धर्म के उद्धारक बालक को जन्म देनेवाले माता-पिता पेनगोंडे से घर लौटे । उसी दिन से उनके घर प्रतिदिन पूजा, दान, स्वाध्याय, तत्वचर्चा आदि धार्मिक कार्य पहले से भी अधिक उत्साह से चलने लगे । कालक्रम से शान्तला का गर्भ वृद्धि को प्राप्त हो रहा था ।

प्रकृति के नियमानुसार काल व्यतीत हो रहा था । अज्ञानी मनुष्य को महान पुण्योदय से प्राप्त मानवजीवन की कीमत ख्याल में नहीं आती । पुण्य से प्राप्त परिस्थिति का उपयोग पुण्य वा पवित्र परिणाम के लिए न करके पापमय परिणाम से काल गवाँता रहता है । वर्तमान मानवजीवन अलब्धपूर्व तत्वज्ञान प्राप्ति के लिए नहीं करता, परन्तु भविष्यकाल में भोग-सामग्री भरपूर प्राप्त हो इसलिए व्यर्थ ही परद्रव्य की प्राप्ति के लिए असफल प्रयत्न करता रहता है । पंचेन्द्रिय भोग सामग्री के समागम का मूल कारण पूर्व पुण्योदय ही है । उसके लिए वर्तमान काल में किया जानेवाला प्रयास पापबंध का कारण

है, अज्ञानी यह नहीं जानता। इसलिए भ्रम से अनुकूल-इष्ट परवस्तु के संयोग के लिए परिश्रम करने से निराशा हाथ लगती है और अंत में मरणकर नाश को प्राप्त होता है।

गर्भस्थ शिशु का पुद्गल पिण्ड क्रमशः वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। मानों लोगों को अपने शुभागमन का शुभ संकेत दे रहा हो। शान्तला के अंग-अंग में शोभा आ रही थी। सौन्दर्य दिन-प्रतिदिन अपनी अन्तिम सीमा-पर्यन्त पहुँचने का प्रयास कर रहा था। चौथे महीने में कटिभाग भर जाने से सौन्दर्य में अपूर्वता आ गई थी। पांचवें माह में उदर भाग भर जाने से सुन्दरता ने कुछ अलग ही रूप धारण किया था। सर्व शरीर में नवीनता लक्षित हो रही थी। जल-भरित बादलों के समान उसकी चाल गंभीर व मंद बन गयी थी। वह गजगामिनी बन गयी थी। जैसे हरा फल पक जाने के बाद पीतवर्ण का हो जाता है उसी प्रकार शान्तला के शरीर का वर्ण पीत हो गया था। प्रारंभ से गौर-वर्ण तो था ही। उसकी मुखाकृति का सौन्दर्य देखकर जन्म लेने वाले भव्य पुरुष के उज्ज्वल भविष्य को कोई भी बता सकता था। देखते ही नज़र लग जाने योग्य उसका रूप हो गया था।

इस तरह क्रमशः सातवाँ, आठवाँ महीना पूर्ण करके नवमें महीने में प्रवेश किया।

नगरवासी सौभाग्यवती स्त्रियों ने शान्तलादेवी के लौकिक में करने योग्य सभी संस्कार महान उत्सवपूर्वक किये। शिशु का विकास निर्विघ्न रीति से हो एतदर्थ भी सभी संस्कार किये गये। पुण्यवानों को बाह्य सभी अनुकूलता मिलती ही रहती हैं। काल अपने क्रम से व्यतीत हो रहा था।

परन्तु तत्वज्ञानहीन मानव को महा दुर्लभ मनुष्य जीवन व्यर्थ जा रहा है, इसकी कुछ परवाह नहीं होती । भविष्यकालीन भोगाभिलाषा के व्यर्थ मनोरथ में समय गंवाता है । प्राप्त वर्तमानकालीन अनुकूलता को सार्थक बनाने की बुद्धि नहीं होती । उसकी भावना भी पैदा नहीं होती । आत्महित का विचार किये बिना शरीरादि पर्यायों में मोहित होकर दुःखी जीवन बिताता है । मैं दुःख भोग रहा हूँ इसका भी पता नहीं रहता, आश्चर्य तो इस बात का है।

उदित होनेवाले उस महापुरुष के आगमन का विश्व के भव्य जीव प्रतीक्षा कर रहे थे । पर उस काल रूपी पुरुष को अवकाश नहीं था, समय मिलने की संभावना भी नहीं थी । वह काल रूपी पुरुष रविचंद्र के रूप में रात्रि और दिन को अनमना सा बुन रहा था । काल बीता जा रहा था ।

इस प्रकार बैसाख से आरंभ होकर पौष मास बीत गया । शार्वरी संवत्सर का माघ मास प्रारंभ हो गया । शुक्लपक्ष की पंचमी के बाल भास्कर के उदय के साथ ही वृक्ष पर ही कली फूल बनकर पककर वृक्ष के साथ बना हुआ संयोग-संबंध समाप्त होने से डंठल से अलग होकर प्रकृति की गोद में गिरनेवाले फल के समान मंगलमय व मंगलकरण उस पुण्यात्मा ने भी नव मास के गर्भवास को पूर्ण कर कालक्रम के अनुसार भू-देवी के गोद में अपनी आँखे खोलीं ।

उस समय सूर्यप्रकाश की प्रभा में भी किसी विद्युत समूह के चमकने जैसा आभास हुआ । उस प्रभातकालीन प्रशांत समय में

शीतल सुगंधित पवन ने तरू-लताओं के पुष्पों को संग्रहीत करके पुष्प वृष्टि द्वारा आनंदोत्सव मनाया। उसी समय काल-पुरुष एक कुल पर्वत पर युगपुरुष के जन्मदिन के रूप में ई. स. पूर्व १०८ शार्वरी संवत्सर के माघ शुक्ल की पंचमी को उकेर रहा था।

उस दिन नगर सेठ गुणकीर्ति को अनेक वर्षों के बाद चिर अभिलषित पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। अतः सारे कोण्डकुन्दपुर नगरवासियों ने बड़े उत्साह के साथ आनंदोत्सव मनाया। नगर के सभी प्रमुख स्थानों पर ही नहीं गली-गली में भी तोरण शोभायमान हो रहे थे। नगर के पांचों प्राचीन भव्यजिनमंदिरों में पूजा, भक्ति अति भक्ति भावपूर्वक हो रही थी। मंदिरों में बैठने के लिए जगह नहीं थी और घरों में तथा रास्तों पर कोई आदमी देखने को भी नहीं मिलता था। दीन-दुखियों के लिए भोजन की व्यवस्था भी की गयी थी।

दस दिनों के बीत जाने पर जन्मोत्सव मनाते हुए शिशु को सुवर्णमय सुन्दर पालने में सुलाकर अनेक सौभाग्यवती स्त्रियों ने मंगल गीत गाये। शान्तला माता ने अपने सपने में चन्द्रमा की चाँदनी देखी थी इसलिए शिशु का नाम पद्मप्रभ रखा गया। जन्मोत्सव के कारण पूरे नगर में बड़े-त्यौहारों की भांति वातावरण नवचैतन्यमय बन गया था। यह आनंदोत्सव एक ही घर का मर्यादित नहीं रहा था, लेकिन बहुत व्यापक बन गया था। सेठ गुणकीर्ति ने भी अपने मित्रजनों की अभिलाषाओं की पूर्ति करने में कोई कसर न छोड़कर अपने गुणकीर्ति नाम को सार्थकता प्रदान की थी।

शुक्ल पंचमी के दिन जन्मा हुआ बालक दूज के चन्द्रमा के समान प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। पद्मप्रभ तीन माह का हो गया था। यद्यपि उसकी सेवा-सुश्रूषा, संवर्धन के लिए अनेक धाय-माताओं की व्यवस्था की गयी थी। तथापि माँ शान्तला उसकी व्यवस्था में सदैव सावधान रहती थी। क्योंकि माता को अपने संतान की व्यवस्था में स्वाभाविक रस होता है। संसार के स्वरूप और संसार परिभ्रमण के कारण से सुपरिचित माता शान्तलादेवी अपने पुत्र को सुसंस्कारित करने के लिए सदा जागृत रहती थी। शिशु को पालने में सुलाते समय सुकोमल मन आध्यात्मिक विचार से प्रभावित हो, इस भव्य विचार से खास अलौकिक लोरियाँ गाती थीं।

प्रथम लोरि

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि।
संसार मायापरिवर्जितोऽसि॥
शरीरभिन्नस्त्यज सर्वचेष्टां।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र॥ १॥

ज्ञाताऽसि दृष्टाऽसि परमात्मरूपो।
अखण्डरूपोऽसि गुणालयोऽसि॥

१. हे पुत्र! तुम शुद्ध-बुद्ध-निरंजन हो, संसार की माया से रहित हो, शरीर से भिन्न हो; अतः अन्य सब चेष्टाओं को छोड़ो और शान्तला के वचनों को धारण करो।

जितेन्द्रियस्त्यज मान-मुद्रां ।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ २ ॥

शान्तोऽसि दान्तोऽसि विनाशहीनः ।
सिद्धस्वरूपोऽसि कलंकमुक्तः ॥
ज्योतिस्वरूपोऽसि विमुंच मायां
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ ३ ॥

कोमल-निर्मल बाल मन के ऊपर सर्वोत्तम संस्कार डालने की इच्छुक माता के इस प्रकार के कर्णमधुर एवं संबोधनस्वरूप गीत सुनकर वह शिशु कैसे सो सकता था ? सो जाने वाले शिशु को इस प्रकार के अपूर्व-अलौकिक संस्कार डालने के भाव भी किसी को कैसे आ सकते थे ? प्रत्येक जीव के भवितव्यानुसार उसे अन्य जीवों का संयोग स्वयमेव मिलता है। भले इष्ट संयोग मिलाने का जीव कितना भी प्रयास करे । एवं उस जीव के भवितव्यानुसार ही संयोग में आनेवाले जीवों को संकल्प-विकल्प होते हैं ।

माता शान्तला की मधुर लोरियाँ सुनकर वह शिशु आँखें बंद करके केवली प्रणीत तत्व का मनन-चिन्तन करते हुए गंभीर हो जाता

---

२. तुम ज्ञान-दृष्टा और परमात्मस्वरूप हो, अखण्डरूप और गुणों के आलय-निवास स्थान हो, जितेन्द्रिय हो और मानादि सम्पूर्ण कषायों की मुद्रा (अवस्था) का त्याग करो—ऐसे शान्तला माता के वचनों का तुम अनुसरण करो ।

३. हे पुत्र ! तुम शांत, आत्म संयमित,अविनाशी, सिद्धस्वरूप, सर्व प्रकार के कलंक (मलदोषादि) से रहित और ज्योति स्वरूप हो; संसार की माया को त्याग कर शान्तला माता के वचनों को ग्रहण करो ।

था। बालक की यह बात हमें आश्चर्यकारक तो लगती ही है; लेकिन साथ ही साथ असत्य-सी लग सकती है, क्योंकि तीन महीने का बालक तत्त्वचितंन कैसे और क्या करेगा ?

पर हमें भी तो यह सोचना चाहिए कि बाल्यावस्था शरीर की अवस्था है या आत्मा की ? आत्मा अनादिकाल से भी कभी बालक हुआ नहीं और होगा भी नहीं। जहाँ आत्मा बालक हो नहीं सकता तो वह वृद्ध भी हो ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, आत्मा को जन्म-मरण भी नहीं हो सकते। आत्मा तो स्वरूप से अनादि-अनंत, एकरूप, ज्ञान का घनपिंड और आनन्द का रसकन्द है। जब तक संयोगदृष्टि से वस्तु को देखने का प्रयास चलता रहेगा तब तक वस्तु का मूल स्वभाव-समझकर धर्म प्रगट करने का सच्चा उपाय समझ में नहीं आ सकता। जहाँ धर्म प्रगट करने का उपाय ही समझ में नहीं आवेगा, वहाँ धर्म-मोक्षमार्ग सुख-शांति समाधान-वीतरागता कैसे प्रगट होगी ?

एकबार शिशु पद्मप्रभ रोने लगा। धाय ने उसको पालने में सुलाकर पालना झुलाया। परन्तु शिशु का रोना बंद नहीं हुआ। धाय ने शिशु न रोवे, शांति से सो जाय अथवा खेलता रहे इसलिए विविध प्रयत्न किये, परन्तु सभी विफल गये। अतः माता शान्तला को बुलाया। उसने लोरियाँ सुनाना प्रारंभ किया ही था कि, इतने में बालक स्वयमेव शांत हो गया।

द्वितीय लोरीः-

एकोऽसि मुक्तोऽसि चिदात्मकोऽसि।
चिद्रूपभावोऽसि चिरन्तनोऽसि ॥

अलक्षभावो जहि देहभावं ।
शान्तालसावाक्युमुपासि पुत्र ॥ १ ॥

निष्कामधामोऽसि विकर्मरूपोऽसि ।
रत्नत्रयात्मकोऽसि परं पवित्रोऽसि ॥
वेत्ताऽसि चेताऽसि विमुंच कामं ।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ २ ॥

प्रमादमुक्तोऽसि सुनिर्मलोऽसि ।
अनंतबोधादि चतुष्टयोऽसि ॥
ब्रह्माऽसि रक्ष स्वचिदात्मरूपं ।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ ३ ॥

शिशु को सोता हुआ जानकर माता लोरी गाना बंद करके सो गयी । गाढ़ निद्राधीन हो गयी । एक घंटे के बाद शिशु ने फिर से रोना शुरू किया । धाय ने उठकर शिशु को झुलाया । माता शान्तला

---

१. हे पुत्र तुम एक, मुक्त, चैतन्यमय, चिंद्रूप, चिरन्तन (अनादि-अनंत), अगम्य (अतीन्द्रिय) हो; देह की एकत्व-ममत्व को छोड़कर शान्तला माता के वाक्य का सेवन करो ।

२. तुम निष्काम स्वरूप (सम्पूर्ण इच्छाओं से रहित), कर्मों से मुक्त, रत्नत्रयात्मक, परम पवित्र, तत्त्वों के वेत्ता और चेता (ज्ञाता दृष्टा) हो; सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग करो और शान्तला माता के वचनों की आराधना करो ।

३. प्रमाद से रहित, सुनिर्मल, अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयात्मक (अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यस्वरूप), ब्रह्मा (आत्मस्वरूप) हो; अपने चैतन्य स्वरूप की रक्षा करो—ऐसे शांतला माता के वचनों को ग्रहण करो ।

के समान उसने भी लोरी गाई, तथापि रोना बन्द नहीं हुआ, उल्टा रोना तेज हो गया। "निद्रित स्वामिनी शान्तला को जगाना उचित नहीं" ऐसा सोचकर धाय ने अनेक उपायों से पद्मप्रभ को सुलाने का प्रयास किया। लेकिन सभी प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए। माता के मुख से मधुर अध्यात्म सुनने की शिशु की इच्छा को धाय कैसे जान सकती थी ?

सामान्यतः बालक हो, युवा हो, प्रौढ़ हो अथवा बुजुर्ग हो, शरीर को ही आत्मा माननेवाले जीव के मानस में एक मात्र उदर-पूर्ति करना ही मुख्य कर्तव्य हो जाता है।

जीव भोजन से जीवित रहता है, भोजन के बिना मरण अटल है ऐसी ही विपरीत मान्यता प्रायः सुनने को मिलती है। भोजन से ही जीवन तब माना जा सकता है जब भोजन के अभाव में मरण हो। प्रतिदिन भरपेट खा-पीकर भी कितने ही प्राणी मरते जा रहे हैं। भोजन करने से यदि कोई जीता है तो किसी कीड़े को भी मरना नहीं चाहिए, क्योंकि प्रत्येक के अपने योग्य भोजन की सुविधा तो रहती ही है। इसलिए यह विदित होता है कि भोजन के अभाव में जीव मरता है यह बात नितान्त असत्य है।

इसके बाद स्वामिनी शान्तला को बुलाना अनिवार्य है ऐसा समझकर धाय ने उसे बुलाया। "यह रोना बंद ही नहीं कर रहा है, उसे भूख लगी होगी, दूध पिलाइये।" इसप्रकार धाय ने शान्तला से कहा। गहरी निद्रा से जागृत शान्तला ने शिशु के पास जाकर देखा। प्रिय पद्मप्रभ आँखें खोलकर रो रहा है। यह भूख के कारण नहीं

रो रहा है, ऐसा जानकर अध्यात्मज्ञान से मानों मंत्रित करने के लिए ही शान्तला लोरियाँ बोलने लगी।

तृतीय लोरी :-

कैवल्यभावोऽसि निवृत्तयोगो।
निरामयो शान्तसमस्ततत्वः ॥
परमात्मवृत्तिं स्मर चित्स्वरूपं।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ १ ॥

चैतन्यरूपोऽसि विमुक्तभारो।
भावादिकर्मोऽसि समग्रवेदी ॥
ध्याय प्रकामं परमात्मरूपं।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ २ ॥

वीणा की कर्णमधुर आवाज सुनकर जैसे सर्प फण उठाकर स्वयमेव सहज आनन्दित होता है, उसी प्रकार शुद्धात्मस्वरूप की अनुपम ध्वनि तरंगों को सुनकर वह शिशु अध्यात्मविद्या से मुग्ध हो

---

१. हे पुत्र ! तुम कैवल्य भाव से युक्त (केवल ज्ञान-केवलदर्शन सहित अथवा नौ केवललब्धियों से युक्त) हो, योगों (मन-वचन-काय) से निवृत्त हो, निरामय हो, समस्त तत्वों के वीतरागी ज्ञाता हो, परमात्मस्वरूपी अपने चैतन्य तत्व का स्मरण करो—यह शान्तला माता के वचन हैं, हे पुत्र इन की तुम उपासना करो।

२. तुम चैतन्यस्वरूप, भाव-द्रव्य कर्मों के भार से रहित, सर्वज्ञ हो, सर्वोत्कृष्ट परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करके शान्तला माता के वचनों का अनुसरण करो।

गया। सर्व शारीरिक चेष्टायें बंद हो गई, आँखे मात्र खुली थीं। मानो शरीर आदि सर्व परद्रव्यों को भूल गया हो। माता शान्तला भी गीत की विषयवस्तु के साथ तन्मय होकर लोरियाँ प्रभातीराग में गा रही थीं। इस आवाज को सुनकर ही गुणकीर्ति जाग गये और पुत्ररत्न का मुखावलोकन करने के लिए आये। पति के आगमन से शान्तलादेवी की समाधि भग्न हो गयी। उसने हास्यवदन से पति का स्वागत किया। गुणकीर्ति ने भी हँसते हुए स्वागत को स्वीकार किया और बोलेः—

"शान्तला ! इसप्रकार दिन-रात जागने से शारीरिक स्वास्थ्य का क्या होगा कभी सोचा भी है ? बच्चे का थोड़ा सेवाकार्य धायों को भी करने दो। हरसमय हरकार्य स्वयं ही करने की खोटी आदत अब तो थोड़ी कम करो।"

"नाथ ! तीन दिनों से लाड़ला पद्मप्रभ न मुझे सोने देता है और न स्वयं सोता है। धायों के अनेक प्रकार के विशेष प्रयत्न के बावजूद भी यह शान्त भी नहीं होता, नींद लेने की बात तो बहुत दूर। किसी अच्छे वैद्य को दिखाकर सलाह लेना आवश्यक है। मुझे चिन्ता हो रही है।"

"ठीक है, शान्तला ! अभी तो यह सो रहा है, सूर्योदय होने दो। नित्यकर्म-स्नानादि से निवृत्त होकर पूजन-स्वाध्याय करके मैं वैद्यराज को बुलाऊँगा, निश्चिंत रहो। सब ठीक हो जायगा।" ऐसा कहकर गुणकीर्ति वहाँ से चले गये। शान्तला भी अन्य गृह-कार्य में लग गयी। धाय किसी बात का भी कुछ अर्थ न समझ पाई व दोनों का कथन सुनते हुए मंत्रमुग्ध-सी वहीं खड़ी रही।

स्वाध्याय व तत्वचर्चा के बाद गुणकीर्ति ने चार वैद्यों को बुलाया वे चारों ही वैद्य वैद्यक-व्यवसाय में अनुभवी, लोक में प्रसिद्ध, सबके श्रद्धा-पात्र और महामेधावी थे। इनको ज्योतिषज्ञान भी था। इन चारों वैद्यों ने बालक का आरोग्यविषयक पूरा तथा सूक्ष्म परीक्षण अपनी-अपनी बुद्धि व पूर्वानुभव के अनुसार किया, आपस में देरतक चर्चा भी की। और अन्त में निर्णयात्मक रीति से सेठजी से कहा :–

"आदरणीय नगरसेठ ! इस भाग्यवान बालक में शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से कोई न्यूनता-कमी नहीं है। रोग होने का तो प्रश्न ही नहीं है। शरीर पूर्ण स्वस्थ है। इस बालक को कुछ तकलीफ भी नहीं है। इसे नींद बहुत कम आती है–बहुत कम समय सोता है ऐसी आपकी खास शिकायत है। आपका कहना तो बिलकुल सही है। बुद्धि की विशेष तीक्ष्णता के कारण उसे नींद कम आना स्वाभाविक ही है। इसकारण आपको चिन्ता करने की कुछ आवश्यकता नहीं है। अल्प निद्रा के कारण बालक के स्वास्थ्य पर किंचित्मात्र भी अनिष्ट परिणाम नहीं है। इस उमर में अब वह जितना सोता है उतनी नींद उसे पर्याप्त है। आठ प्रहर में एक अथवा डेढ़ प्रहर सोयेगा तो भी बहुत है। आप निश्चिंत रहिएगा।"

भो श्रेष्ठीवर ! इस भूमण्डल पर आप जैसा भाग्यशाली और कोई दिखाई नहीं देता। वैद्यक शास्त्र की रचना काल से लेकर अभी तक इस प्रकार की विचक्षण बुद्धिवाला जीव नहीं जन्मा है। इस प्रकार असामान्य बुद्धिमान शिशु को जन्म देकर आपने विश्व पर महान उपकार किया है। इस बालक के उपकार का स्मरण विश्व "यावत्चंद्र दिवाकरौ" तक रखेगा। इस लोकोत्तर महापुरूष का

बाल जीवन देखकर भी हमारा जीवन धन्य हो गया –कृतार्थ हो गया। बड़े हो जाने के बाद की बुद्धि-प्रगल्भता के स्मरणमात्र से भी हमारा हृदय रोमांचित हो उठता है। इसकी वाणी को प्रत्यक्ष सुनने का सौभाग्य जिन्हें प्राप्त होगा, वे धन्य होंगे।

नगरसेठ ! जीवन की अन्तिम बेला में प्रज्ञाहीन होने पर भी यदि इस महापुरुष का एक वाक्य सुनने को मिल जाये तो वह हमारा भाग्य होगा। आज हमें जो आपने यहाँ बुलाया है, उसके लिए वह अलौकिक शब्दामृत ही हमारा पारिश्रमिक समझो। अभी हमारा यह पारिश्रमिक आपके पास ही धरोहर रूप में रहे ऐसा कहकर बालक के चरणों का अति नम्रता और भक्तिपूर्वक वंदन करके-मस्तक झुकाकर चारों वैद्यराज वहाँ से चले गये।

कुछ ही दिनों बाद प्रिय पद्मप्रभ विषयक आनंददायक यह समाचार गांव-गांव में, नगर-नगर में पुरजन-परिजन में फैल गया। पेनगोंडे और जिनकंची मुनिसंघ में भी इस सुखद समाचार को कुछ सज्जनों ने स्वयमेव पहुँचाया। श्रेष्ठीपुत्र की असामान्य बुद्धि की चर्चा ही साधारण जन मानस का एकमेव विषय बन चुकी थी। वन की अग्नि के समान यह चर्चा भी सर्वत्र फैल गयी।

पेनगोंड़े के आचार्य जिनचंद्र को इस बालक के संबंध में पहले से ही पर्याप्त जानकारी थी; जिनकंची के आचार्य पुंगव अनंतवीर्य को पद्मप्रभ बालक रत्न का सुखद समाचार प्रथम ही सुनने को मिला। श्री अनंतवीर्य आचार्य महामेधावी व अष्टांगनिमित्तज्ञानी थे। दक्षिण भारत में आपका विशेष प्रभाव एवं प्रसिद्धि थी। वे अपने निमित्त ज्ञान से बालक के भूत-भविष्य को विस्तारपूर्वक जानकर विशेष प्रभावित हुए। कहा भी है :–

"गुणी च गुणरागी च सरलो विरलो जनः"। अर्थात् स्वयं गुणवान होते हुए गुणी जनों के संबंध में प्रमोद व्यक्त करनेवाले ऐसे सरल लोग बहुत विरल होते हैं। देखो ! वीतरागी महामुनिश्वरों को भी पद्मप्रभविषयक राग उत्पन्न होता था, ऐसा था वह बालकरत्न।

उन्होंने सोचा-इस प्रकार के अनुपम बुद्धिधारक बालक को अपने संघ में बुलाकर अपने सानिध्य में योग्य समय पर धर्म-शिक्षण देना चाहिए। फिर मुनिसंघ के नायक-आचार्य पद पर विराजमान करना चाहिए। इससे समाज को विशेष धर्मलाभ होगा। परन्तु पेनगोंडे संघ के आचार्य जिनचंद्र महाराज का और गुणकीर्ति का परिचय पहले से ही पर्याप्त है, अतः यह बालक रत्न अपने संघ को मिलना कठिन ही लगता है। तथापि इस वर्षायोग की समाप्ति के बाद कोण्डकुन्दपुरनगर की दिशा में विहार करना ठीक रहेगा।

क्रमनियमित पर्याय में जो होनेवाला है वही होगा। अपनी इच्छा के अनुसार वस्तु में परिवर्तन करने का सामर्थ्य किसी आत्मा अथवा अन्य पदार्थ में है ही नहीं। अज्ञानी तो मात्र विकल्प (राग-द्वेष) करता है। प्रत्येक पदार्थ की परिणति (बदल, अवस्था, परिवर्तन) अपने-अपने स्वभाव के अनुसार स्वयमेव होती रहती है। यह तो अनादिनिधन वस्तुस्वभाव है। इस विश्व में कौन किसका नाश कर सकता है ? कौन किसको सुरक्षित रख सकता है ? कौन धर्म की अभिवृद्धि करेगा ? सर्व पदार्थ सर्वत्र सर्वदा स्वतंत्र हैं। परन्तु वस्तु स्वातंत्र्य का बोध नहीं होने से अज्ञानी, आत्मा को अकर्त्ता-ज्ञाता स्वभावी नहीं जानता-मानता। आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी मानना

ही मूल सिद्धान्त है और जीवन में सुखी होने का भी यही महामंत्र है। इसे जाने बिना जीव का उद्धार होना संभव नहीं-कल्याण भी नहीं।

दिन-रात बीतते ही जा रहे थे। बालक पद्मप्रभ तीन वर्ष का हो चुका था। वह छोटे-छोटे कदम रखता हुआ घर-भर में इधर से उधर और उधर से इधर दिनभर दौड़ता था। तुतलाता हुआ गंभीर तत्त्व की बात करता हुआ सभी को आश्चर्य-चकित कर देता था।

माँ शान्तला भी उसे अपनी गोद में बिठाकर पंचास्तिकाय, छह द्रव्य, साततत्त्व, नवपदार्थ का ज्ञान कराती थी। विषय को समझने की जिज्ञासा जानकर यथायोग्य-यथाशक्य उनके स्वरूप का भी निरूपण करती थी। इस प्रकार पंचास्तिकाय, छहद्रव्य, सात तत्त्व, नवपदार्थ का प्राथमिक ज्ञान तो बालक पद्मप्रभ ने माँ की गोद में ही प्राप्त कर लिया।

तदनन्तर उसे अक्षर ज्ञान देना प्रारंभ हुआ। वह कण्ठस्थ पद्य को स्मरण करने के समान किसी भी विषय को सुलभता से ग्रहण कर लेता था। किसी कठिनतर विषय को भी एक बार कहने से उसे उसका ज्ञान हो जाता था। एक ही बार कहे गये विषय के सम्बन्ध में प्रश्न करने में प्रश्नकर्त्ता को भी संकोच होता था। लेकिन वह बालक निःसंकोच उत्तर दे देता था।

दिन बीतते ही जा रहे थे। बालक की बुद्धि भी दिन-प्रतिदिन प्रौढ़ होती जा रही थी। इसलिए पठन-पाठन भी स्वाभाविक बढ़ता गया। घर ही विद्यालय बन गया। प्रौढ़, गम्भीर और दक्ष दो विद्वान अध्यापक न्याय, छन्द आदि विषयों को पढ़ाते थे। साथ ही साथ

तमिल, कन्नड़, प्राकृत, संस्कृत भाषाविद् भी प्रतिदिन अर्धप्रहर के कालांश क्रम से उस-उस भाषा शास्त्र को पढ़ाते थे। माता-पिता द्वारा धार्मिक संस्कार भी अखण्ड रीति से मिलते ही रहते थे।

इसीबीच जिनकंची संघ के ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध आचार्य पुंगव अंनतकीर्ति महाराज पेनगोंडे संघ के आचार्य श्री जिनचंद्र के साथ बिहार करते-करते कोण्डकुन्दपुर नगर के समीप आ गये। ये दोनों निर्ग्रन्थ मुनिराज श्रेष्ठीपुत्र के तीव्रतर बुद्धि, विशेष स्मरण शक्ति व कल्पना चातुर्य पर मुग्ध थे। प्रतिदिन किसी न किसी बहाने से होनहार पद्मप्रभ को अपने पास बुलाते थे और प्रश्न पूछा करते थे और उत्तर पाकर प्रभावित होते थे। वयोवृद्ध अनंतवीर्य मुनिराज अपने उपदेश में विश्व के सकल चराचार पदार्थों का स्वरूप, धर्माधर्म का स्वरूप, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त, आत्मस्वरूप और स्व-पर कर्तृत्व की परिभाषा इत्यादि सूक्ष्म विषयों का विवेचन करते थे। पद्मप्रभ की पात्रता बढ़े ऐसा प्रयास भी करते थे। बालक की ग्रहण शक्ति को देखकर उसे उत्साहित करते थे। बालक को छोड़कर जाने के लिये उनका मन नहीं होता था। इस को साथ ले जाने का विचार प्रगट न करते हुए भी धर्ममय वात्सल्य भाव से क्वचित्-कदाचित् विचारमग्न भी हो जाते थे। अन्त में अपनी मुनि-अवस्था का और वीतराग धर्म के यथार्थ स्वरूप का स्मरण कर उन्होंने वहाँ से अन्यत्र विहार कर ही दिया।

प्रस्थान प्रसंग पर अकस्मात् ही जनसमूह जुड़ गया। वह महामुनियों के साथ दूरपर्यंत चला जा रहा था। उनमें से मात्र गुणकीर्ति को बुलाकर उनसे कुछ कहकर आगे विहार कर गये।

बाद में उन्होंने पीछे मुड़कर भी नहीं देखा। सेठ गुणकीर्ति कुछ क्षण तो गंभीर तथा स्थिर हो गये। बाद में नगर की ओर वापिस आ गये।

बालक पद्मप्रभ दस वर्ष पूर्ण करके ग्यारहवें वर्ष में पदार्पण कर रहा था। इस दशकपूर्ति के उत्सव को अर्थात् जन्म-दिवस की दसवीं वर्षगांठ को बड़ी धूमधाम से मनाने का निर्णय सेठ गुणकीर्ति और माता शान्तला ने किया। तीन दिन का कार्यक्रम निश्चित करके उसमें नित्य पूजन, नैमित्तिक पंचपरमेष्ठी विधान, चतुर्विध संघ को आहारदान, शास्त्रदान, तत्त्वचर्चा, धर्मगोष्ठी आदि कार्यक्रम निश्चित किए। कार्यक्रम पत्रिका तैयार करके ग्राम ग्राम तथा नगर-नगर में निमन्त्रण पत्र भेज दिये। पेनगोंडे और जिनकंची संघ में भी जाकर भक्तजनों ने इस धार्मिक कार्यक्रम का ज्ञान कराया। नगर के बड़े मंदिर के सामने विशाल मैदान में भव्य मंच का निर्माण किया गया। दूर-दूर के प्रदेशों के लोग तो आ ही गये, इतना ही नहीं, सुदूर प्रदेश के दिग्गज विद्वानों ने भी इस कार्यक्रम में भाग लिया। श्रेष्ठी दम्पत्ति ने खर्च और व्यवस्था करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। अतः बालक का जन्मोत्सव "न भूतो न भविष्यति"—ऐसा मनाया गया।

उस जन्मोत्सव ने किस-किस पर क्या-क्या और कैसा-कैसा प्रभाव डाला यह देखना अनावश्यक है। परन्तु जिस भावी महापुरुष का यह जन्मोत्सव था उस पर हुए प्रभाव को देखना-जानना अत्यन्त आवश्यक है।

जगत के तत्त्वज्ञानरहित सामान्यजन अनादिकाल से बहिर्मुखी पंचेन्द्रियों के द्वारा बहिर्मुखी वृत्ति का ही अवलम्बन करते आये हैं और कर रहे हैं। उन्हें सच्चे सुख का मार्ग समझ में नहीं आता और

उनका उस दिशा में कुछ भी प्रयास नहीं रहता। आजकल हम-आप भी अपने बालकों का जन्मदिन मनाते हैं; परन्तु जन्म दिन मनाने में कौन-सी गम्भीर बात-मर्म छिपी है—क्या हमने इसके संबंध में थोड़ा सा भी कभी विचार किया ? विचार किया होता तो ऐसे अज्ञानमय कार्य हम कभी नहीं करते। आपके मन में प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या जन्म दिन मनाना अज्ञानमयकार्य है ? इस विषय में हमें कुछ सोचना जरूरी है।

हम किसका जन्म-दिन मना रहे हैं ? चैतन्यस्वरूपी आत्मा का अथवा चैतन्यरहित-जड़ पुद्‌गलमय शरीर का ? प्रथम हम यह देखें-सोचें कि चैतन्यस्वरूपी आत्मा के जन्म-मरण होते हैं या नहीं? आत्मा के जन्म-मरण नहीं होते; क्योंकि आत्मा अनादि अनंत है, फिर उसे जन्म-मरण कैसे ? अतः हम जड़-पुद्‌गलस्वरूपी शरीर का ही जन्म दिन मनाते हैं, यह निश्चित हुआ।

ज्ञानशून्य, रक्त-रुधिरादि एवम् स्पर्शादि गुणों सहित, जिस शरीर का आत्मा के साथ अंतिम संयोग हो-और अशरीरी पद की साधना की जावे, ऐसे शरीर का गौरव, सत्कार, सन्मान, बहुमान करना चाहिए अर्थात् जन्मदिन मनाना चाहिए।

तात्त्विक दृष्टिवालों के विचार नियम से उदार, उदात्त, सुखस्वरूप व सुखदायक ही होते हैं :- हमारे द्वारा स्वीकृत पदार्थ अच्छा हो या बुरा, उसको छोड़ते समय उसकी निंदा न करके सम्मान देकर छोड़ देना चाहिए। दुनिया में भी सामान्य लोगों में यह रूढ़ि है कि सज्जनों की संगति धन खर्च करके करना चाहिए और दुर्जनों की संगति दुर्जन को धन देकर सदैव के लिए छोड़नी चाहिए।

"अनादिकाल से इस संसारी दुःखी आत्मा के साथ जड़ शरीर का संयोग रहा है। अतः यह आत्मा जन्म-मरणरूप असह्य दुःख परम्परा को भोग रहा है। आज उसी जड़-पुद्गलमय शरीर में वास करते हुए अपने अनादि अनन्त, सुखमय शुद्धात्मा को जानकर पंचपरिवर्तनरूप संसार समुद्र से सहज रीति से सदा के लिए छूट रहा है-अनंत काल के लिए सुखी हो रहा है। इसलिए अंतिम शरीर का सम्मान करना हम सज्जनों के लिए वास्तविक शोभादायक है।"

परन्तु जो शरीर आत्मा के सहज शुद्ध स्वरूप को समझने में सहायक नहीं है, उल्टा बाधक है, अतः जो दुःख परम्परा का जनक-उत्पादक है, उसका गौरव, सन्मान करने में कौन-सी बुद्धिमानी है ? सार्थकता भी कैसी ? उन्मार्ग और अधोगति में ले जानेवाले शरीर का यदि (जन्मोत्सव मनाकर) सन्मान-गौरव करते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमें उन्मार्ग और दुर्गति इष्ट है–यह तो दुःखदायी दुर्जन का अभिनंदन हुआ।

जो शरीर, संसार बन्धन-रूप दुःखों से छुड़ाकर मोक्ष में पहुँचाने में सहायता करता है-निमित्त बनता है, उस अंतिम शरीर विषयक कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए जन्म-दिन महोत्सव-जन्मजयन्ती मनाना सार्थक है। इसलिए कब, किस शरीर का और कैसा जन्म-दिन मनाना चाहिए इस संबंधी मर्म समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है। जन्म-दिन मनाने के पीछे कौन-सा उदात्त ध्येय है यह जानना-सोचना जरूरी है। इस प्रकार धर्म के मर्म को न जानकर केवल अन्धानुकरण करते हुए धर्म के नाम पर अधर्म का आचरण करके अनंत संसार की वृद्धि नहीं करनी चाहिए।

जन्म-दिन के महोत्सव से श्रेष्ठीपुत्र पद्मप्रभ उत्साहित होने के बजाय गंभीर होता जा रहा था, यह उचित ही था। लोग जन्मोत्सव के अर्थ को न जानकर भी उसे मनाते हैं, इससे बालक को अत्यन्त खेद हो रहा था। "माता-पिता दोनों जन्म-जयन्ती मनाकर मुझे अशरीरी-मुक्त होने के लिए मानो प्रेरणा दे रहे हैं-उत्साहित कर रहे हैं तो मैं मुक्तिमार्ग को सहर्ष स्वीकार क्यों न करूँ ? ऐसे तीव्र वैराग्य के विचार मन में पुनः पुनः उत्पन्न हो रहे थे।

"माँ ने तो मुझे पालने में अध्यात्म के मुक्ति प्रदायक संस्कार दिये हैं, जो कि अमिट हैं।

सिद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि।
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ॥

इस तरह मुझे मेरे शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञान कराकर मेरे ऊपर माँ ने महान उपकार किया है। अपने बालकों के सुकोमल, निर्दोष और पवित्र मन पर बचपन में प्रारंभ से ही सदाचार व मुक्तिमार्ग के संस्कार डालनेवाले ही सच्चे माता-पिता हैं। ऐसे विवेकी, दूरदर्शी व धार्मिक माता-पिता के कारण ही बालकों का दुर्लभ मानव जन्म सफल तथा धन्य बनता है। इन्होंने तो मुझे विवाहादि संसार के माया-जाल में उलझने के पहले ही सावधान किया है; मुझे अपने वास्तविक कर्तव्य का बोध दिया है। अतः मेरी यह भावना है कि ये माता-पिता मेरे अंतिम माता-पिता न बन सकें तो कम से कम उपान्त्य (अंतिम के पहले वाला) माता-पिता तो बनें। मैं तो पुनः किसी को माता-पिता बनाना चाहता ही नहीं।

मैंने अनादिकाल से अनेक जीवों को माता-पिता बनाकर उनको रुलाया, कष्ट दिया और उनके माध्यम से मानो भिखारी वृत्ति से परपदार्थों का दास बनता रहा। जन्म-मरणादि दुःखों से संत्रस्त होता रहा। यह प्राप्त दुःख-परम्परा मेरे अज्ञान का ही फल है। इस दुःख की जिम्मेदारी और किसी की नहीं। मेरे अज्ञान को मुझे स्वयमेव छोड़ना होगा; यही सुखी होने का तथा आत्महित का एकमात्र उपाय है। अनंत सिद्धों ने भी इसी मार्ग का अवलम्बन लिया था।

कोई भी माता-पिता अपने पुत्र को तपोवन में हँसते-हँसते नहीं भेजते; तथापि ये मेरे माता-पिता आदर्श हैं। मेरे वास्तविक तथा शाश्वत हित के इच्छुक हैं। मेरे तपोवन में जाने से इनको तात्कालिक दुःख तो होगा लेकिन-इस प्रकार विचारपूर्वक निर्णय करके ग्यारहवें वर्ष में पदार्पण करनेवाले पद्मप्रभ ने मुनिपद में पदार्पण करने का विचार माता-पिताजी के सामने दृढ़तापूर्वक रखा।

पुत्र के विचारों को सुनते ही माता-पिता के मन में भयप्रद धक्का लगा। यह बालक इतनी छोटी आयु में ही ऐसा अतिकठोर निर्णय लेगा; यह उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। अति दीर्घकाल के बाद पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा पूर्ण हुई थी। उसका वियोग सहन करने के लिए उनका मन तैयार नहीं हुआ। माता शान्तला ने अति करुण स्वर में भयभीत होते हुए कहा :-

"प्रिय पुत्र ! इस बाल्यावस्था-अल्पवय में किसी भी तीर्थंकर महापुरुष ने संन्यास धारण नहीं किया।"

"माँ ! आप किसकी आयु गिन रही हैं ? आयु आत्मा की होती है या मनुष्य पर्याय की ? मनुष्य अवस्था की अपेक्षा से विचार किया जाय तो भी आठवर्ष के बाद केवलज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य मनुष्य अवस्था में है-ऐसा शास्त्र का वचन है । ऐसी स्थिति में मैं छोटा हूँ क्या ? आत्मसिद्धि एवम् किसी भी धार्मिक कार्य के लिए ही तीर्थंकरादि महापुरुषों के आदर्श का अवलोकन किया जाता है, अन्य विषय-कषायादि पोषण के लिए नहीं ।"

"आचार्य अनंतवीर्य महामुनीश्वर के द्वारा उस दिन बताया गया भविष्य साकार हो रहा है पुत्र !"

"इसीलिए हे तात ! मैं कहता हूँ भविष्य का तिरस्कार करना-उस को नकारना पुरुषार्थ नहीं है ।"

"पुत्र ! तुम्हारे वियोग के विचार से असह्य दुःख हो रहा है, फिर प्रत्यक्ष में वियोग हो जाने पर............"

"यह दुःख शाश्वत नहीं है माँ ! आप दोनों के उदात्त मन की स्वाभाविक उदारता को मैं जानता हूँ । आप मुझे हँसते-हँसते विदा करें ।"

"विरह की वेदना असह्य है, पुत्र !"

" क्षमा करो माँ ! विरक्ति के विशाल मैदान में स्थित भगवान मुझे अपने साथ रहने के लिए पुकार रहे हैं । मैं उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता ।"

पद्मप्रभ की आंतरिक ध्वनि में दृढ़ निश्चय था ।

"प्रिय पुत्र ! यह घर तुम्हारे जाने से आज ही कांतिविहीन हो जायगा ।"

—इस प्रकार गद्गद् कण्ठ से कहती हुई माँ शान्तलादेवी मोहवश बरबस रो पड़ी।

" बस करो माँ ! अब छोड़ दो। मोह की वशवर्तिनी बनकर अपनी उदात्तता छोड़ना अच्छा नहीं लगता, शोभादायक भी नहीं लगता।आप दोनों ने ही तो मुझे वस्तुस्वरूप का और शुद्धात्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान देकर महान उपकार किया है; उसको मैं जीवनपर्यंत नहीं भूलूँगा।"

"ठीक है पुत्र ! जाओ तुम्हारा कल्याण हो।"

"पूज्य माताजी-पिताजी मैं नमस्कार करता हूँ। आशीर्वाद दीजिए।"

"शुद्धात्मस्वभाव के अनुभव द्वारा कर्मों को जीतकर भव से रहित हो जाना। जब तक सूर्य-चन्द्रमा रहेंगे तब तक विश्व तुम्हारा स्मरण करता रहे।" इस प्रकार दोनों ने हृदय के अंतस्थल से अपने हृदय के टुकड़े प्रिय पुत्र पद्मप्रभ को बिदा देते समय अन्तिम हार्दिक आशीर्वाद दिया।"

उस वैराग्यसंपन्न बालक ने वहाँ से दिगम्बर दीक्षा लेने हेतु प्रस्थान किया। सेठ गुणकीर्ति और माता शान्तलादेवी–दोनों न जाने कितने समय तक वहीं अचल-अबोल खड़े रहे; पद्मप्रभ की पीठ को अश्रुपूरित नेत्रों से देखते रहे।

सुकोमल शरीरधारी वैश्यपुत्र ने अभी ग्यारह वर्ष भी पूरे नहीं किये थे; परन्तु बाल्यावस्था में ही आत्मा की अंतर्ध्वनि सुनकर संसारोत्पादक तीन शल्यों से रहित होकर और माता-पिता के करुण क्रंदन से भी विचलित न होकर, घर छोड़कर वह चल दिया। वह

दीक्षार्थी अनेक ग्राम नगर, वन-उपवनों को लांघकर भ्रमण करता हुआ दक्षिण दिशा के नीलगिरि-पर्वत पर पहुँच गया। वहाँ विराजमान मुनिराज[१] से यथाजातरूप दिगम्बर जैन साधु की दीक्षा धारण की। दीक्षा के बाद गुरु ने उनके घर के पद्मप्रभ नाम को ही थोड़ा बदलकर उन्हें 'पद्मनंदि' यह नाम दिया। उस दिन से ही पद्मप्रभ पद्मनंदि नाम से प्रसिद्ध हुए।

मुनि पद्मनंदि दिगम्बर जैन साधु ने असंख्यात तीर्थंकर तथा अनंत महामुनीश्वरों द्वारा प्रतिपादित सनातन, यथार्थ धर्ममार्ग को स्वीकार किया। एक मात्र स्वात्मकल्याण ही जीवन का सर्वस्व बनाया था। मात्र आत्महित के लिए ही स्वीकृत दीक्षा को अंतर्बाह्य दृष्टि से यथासंभव निर्मल, उदात्त, यथार्थ और सर्वोत्कृष्ट बनाने के लिए ही वे केवल मनन-चिंतन ही नहीं करते अपितु प्रत्यक्ष में अपूर्व पुरुषार्थ भी करते थे।

बाल्यावस्था में यथाजातरूप मुनि धर्म धारण करके पद्मनंदि मुनि महाराज अपने गुरू के आदेशानुसार कुछ मुनिजनों के साथ सर्वत्र विहार करते थे। अनेक राजा, महाराजा, राजकुमार, राजश्रेष्ठी, श्रावक-श्राविका और वृद्ध मुनि महाराज भी उनका सदा सह्रदय सन्मान करते थे। परन्तु पद्मनंदि मुनिराज का किसी पर राग-द्वेष नहीं था। वे तो समदर्शी महाश्रमण बन चुके थे।

सिद्ध परमेष्ठी अनंत सुखादि सम्पन्न सर्वोत्कृष्ट भगवान हैं। वे संसारी जीवों के लिए साध्यरूप आत्मा हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी सर्वोत्तम-पूर्ण सुख पद के (सिद्ध दशा के) साधक हैं।

---

१. ई. स. पूर्व ६७. दीक्षादायक गुरू का कोई निश्चित नाम नहीं मिलता।

अरहंत-सिद्ध और आचार्य, उपाध्याय, साधु इनमें अंतर मात्र पूर्णता और अपूर्णता की अपेक्षा है। अरहंत-सिद्ध परमेष्ठी स्वशुद्धात्मा का अवलंबन पूर्णरूप से लेते हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु आंशिकरूप से लेते हैं, परन्तु लेते हैं सभी मात्र शुद्धात्मा का ही अवलम्बन। ध्यान के लिए ध्येयरूप से बना हुआ स्वशुद्धात्मा प्रत्येक का भिन्न-भिन्न होने पर भी शुद्धात्मा के स्वरूप में किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं। एवं पंच परमेष्ठी को प्राप्त होनेवाला वीतरागमय आनंददायक स्वाद भी सभी को एक ही जाति का मिलता है। भले ही भूमिकानुसार स्वाद की मात्रा में अंतर हो।

पंचपरमेष्ठियों में तीन परमेष्ठीरूप (आचार्य, उपाध्याय, साधु) मुनिधर्म शुद्धोपयोगमय है। शुद्धोपयोग में स्वशुद्धात्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है। यह अनुभव आनंदमय है और यही धर्म है। शुद्धोपयोग मुनिराज को करना पड़ता है, ऐसा नहीं है; क्योंकि जैसे श्वांसोच्छ्वास मनुष्यशरीर का स्वाभाविक कार्य है वैसे ही मुनि जीवन में शुद्धोपयोग स्वाभाविक रूप से होता है। संक्षेप में कहें तो शुद्धोपयोग, शुद्धपरिणति, वीतरागता, समताभाव, संवर-निर्जरारुप सुखमय परिणाम, आंशिक मोक्ष का नाम ही मुनिधर्म है।

मुनिधर्म में अमुक अमुक क्रियायें एवम् व्रतादि करना चाहिए ऐसा कथन व्यवहारनय से शास्त्रों में आता है, तथापि कोई भी धार्मिक क्रियायें हठपूर्वक करना मुनिधर्म में स्वीकृत नहीं। जो आत्मा की सतत साधना-आराधना एवम् आश्रय करता है, वही साधु है। ऐसा वह आत्मसाधक निर्विघ्न आत्म-साधना के लिए वन-जंगल में ही वास करता है।

इतना ही नहीं, अहिंसादि पाँच महाव्रत, ईर्यादि पाँच समिति, पंचेन्द्रियनिग्रह, केशलोंच, षडावश्यक क्रिया, नग्नता, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े होकर आहार लेना, दिन में एकबार भोजन इन अट्ठाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन भी मुनीश्वरों के जीवन में अनिवार्य रूप से होता ही है।

इन अट्ठाईस मूलगुणों के अतिरिक्त साधुओं को उत्तरगुणों का अनशनादि बाह्याभ्यंतर तपों का भी पालन दृढ़ता पूर्वक करना चाहिए। इस प्रकार का श्रमणधर्म जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, ऐसा उपदेश पद्मनंदि मुनि महाराज साधु और श्रावकों को देते थे।

महाहिंसक पशुओं के निवास स्थान गिरि-कन्दराओं में, भयानक श्मशान भूमि में ध्यान लगाते थे। और शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करते थे। मुख्यरूप से तो अपने चिदानन्दघन शुद्धात्मस्वरूप में निमग्न रहते हुए अनुपम आनन्द का अनुभव करते थे। साधु की षडावश्यक क्रियाओं में सहज प्रवृत्ति रहते हुए भी आत्मस्थिरता द्वारा वीतरागता बढ़े,इस भावना से निर्बाध स्थान में-एकांत में विशेष आत्मसाधना करके अपूर्व समता-रस का पान करते थे। और उनके अमृतमय वचनों से जिज्ञासु धर्म-लोभी याचकजन भी लाभान्वित होते थे।

साधु जब गुप्तिरूप विशेष धर्म-कार्य में संलग्न नहीं होते तब सावधानीपूर्वक समिति में प्रवृत्ति करते हैं। समिति में सावधान रहते हुए भी बाह्य में किसी जीव का घात हो जाय तो भी प्रमाद के अभाव से हिंसक नहीं माना जाता। मात्र द्रव्य हिंसा हिंसा नहीं है। परन्तु असावधान पूर्वक प्रवृत्ति अर्थात् जीवन प्रमादसहित बनने से रागादि

विकारी परिणामों के सद्भाव से प्राणों का घात नहीं होने पर भी प्रमादी जीव हिसंक-विराधक सिद्ध होते हैं। शुद्धात्मसाधना में सावधान साधक रागादि विकारों से रंजित नहीं होते। पानी में डूबे कमल की तरह साधक कर्मबन्धनों से निर्लिप्त रहता हैं। शुद्धोपयोग-शुद्धपरिणतिरूप वीतराग परिणामस्वरूप अहिंसा से साधक का जीवन अलौकिक होता है। इस प्रकार धर्म का वास्तविक स्वरूप समझकर मुनिजन अलौकिक आनन्द के साथ जीवन-यापन करते हैं।

केवल कठोर व्रताचरण और कायक्लेश से धर्म नहीं होता। धार्मिक मनुष्य के जीवन में कठोर व्रताचरण और कायक्लेश पाये जाते हैं, यह बात सत्य है। वे धर्म के मात्र बाह्यांग हैं। अंतरंग में त्रिकाली शुद्ध स्वभावी ज्ञायक आत्मा का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्ररूप वास्तविक धर्म होता है। अन्तरंग धर्म के साथ बाह्य व्रतादिरूप धर्म ही ज्ञानियों को मान्य रहता है।

परपदार्थविषयक रागद्वेष के कारण नित्य सुखस्वभावी आत्मा सतत दुःखी हो रहा है। दुर्लभ मानव पर्याय प्राप्त करके भी परमात्मा (सुखी आत्मा) बनने के उपाय का अवलम्बन न करने से जीवन व्यर्थ जा रहा है। अनमोल जीवन कौड़ी मोल का बन रहा है। जो परमात्मस्वरूपी अपने आत्मा की उपासना-आराधना करता है, उसका जीवन सार्थक है, धन्य है!।

दीक्षाग्रहण के बाद अखण्डरूप से तेंतीस वर्षों तक निज स्वभाव की साधना में निरत मुनिराज पद्मनंदि ने स्वानुभव प्रत्यक्ष से उत्पन्न सच्चे सुख को भोगते हुए दक्षिण और उत्तर भारत में मंगल विहार

किया। विहार में सज्वलन कषायांश के तीव्र उदय से संघस्थ साधुजनों को और वनजंगल में दर्शन निमित्त आये हुए श्रावक-श्राविकाओं को भी यथार्थ तत्वोपदेश तथा धर्मोपदेश भी देते थे। उनका सुमधुर, प्रभावी, भवतापनाशक तथा यथार्थ उपदेश सुनकर और निर्मल, निराबाध, परिशुद्ध आचरण प्रत्यक्ष देखकर सम्पूर्ण भारतदेश का श्रमण समूह भी उनसे विशेष प्रभावित होता था। और उनकी मन ही मन में हार्दिक प्रशंसा करता रहता था।

उठे तो आत्मा, बैठे तो आत्मा और जिनके हृदय का परिस्पंदन भी आत्मामय हो गया था, उस श्रमण-कुल तिलक मुनिपुंगव को देखकर वेषधारी साधुओं के हृदय में भय से कम्पन होता था। और अपने इस भय-कम्प को वे सामान्यजनों से छिपा भी नहीं पाते थे। इसतरह वे पद्मनंदिमुनिराज परम वीतराग सत्यधर्म की साकार मूर्ति ही बन गये थे। श्रमण परम्परा के सर्वश्रेष्ठ साधक समता परिणाम के कारण सबके मन में समान रीति से श्लाघ्य हो गये थे। ऐसे मुनिपुंगव पद्मनंदि को मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका चतुःसंघ ने ई. स. पूर्व ६४ में आचार्य पद पर सोत्साह प्रतिष्ठित किया[१] और

१. प्रो. हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दिसंघ की पट्टावली के आधार से यह ज्ञात होता है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव विक्रम संवत् ४६ मार्गशीर्ष बदी अष्टमी गुरूवार को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पदवी प्राप्त हुई। आगे भी ५० वर्ष, १० महीने और १५ दिवस पर्यंत आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे थे। उनकी कुल आयु ६५ वर्ष, १० महीने ओर १५ दिन की थी।
प्रो. ए. चक्रवर्ती ने भी पंचास्तिकाय की प्रस्तावना में यहीं अभिप्राय व्यक्त किया है।
डा. ए. एन. उपाध्ये ने भी कहा है कि "उपलब्ध सामग्रियों के विस्तृत विमर्श के बाद कुंदकुंदाचार्य का काल ई. स. का प्रारंभिक काल होना चाहिए ऐसा मेरा मानना है।" —प्रवचन की प्रस्तावना—पृष्ठ-२२

अपने इस कार्य से चतुःसंघ स्वयं भी सन्मानित हो गया। उस समय आचार्य पद्मनंदि महाराज की आयु ४४ वर्ष की थी।

आचार्य पदवी पर आरूढ़ होने के बाद इनका नाम चारों दिशाओं में फैल गया। उस समय आपका नाम पद्मनंदि के स्थान पर जन्मस्थान कौण्डकुन्दपुर के अन्वर्थरूप से कौण्डकुन्द और उच्चारण सुलभता के कारण कुन्दकुन्द हुआ। षट्प्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्रुतसागरसुरि ने इन्हें पद्मनंदि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इस प्रकार पाँच नामों से निर्देशित किया है।

नन्दिसंघ से संबंधित विजयनगर के प्राचीन शिलालेख में (अनुमानित काल ई. सं .१३८६) उपर्युक्त पाँचों नान कहे गये हैं। नन्दिसंघ की पट्टावली में भी ये उपर्युक्त पाँचों ही नान निर्दिष्ट हैं।

पंचास्तिकाय की टीका में जयसेनाचार्य ने भी पद्मनन्दि आदि पाँचों ही नामों का उल्लेख किया है। पर अन्य शिलालेखों में पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द या कोण्डकुन्द इस प्रकार दो नाम ही मिलते हैं। इन्द्रनन्दि आचार्य ने पद्मनंदि को कुन्दकुन्दपुर का निवासी बताया है। श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखों में उन्हें कोण्डकुन्द कहा गया है।

संसार से विरक्त वीतरागी साधुओं के माता-पिता के नाम शिलालेखों में कहीं भी नहीं मिलते (शास्त्रों में नाम मिलते हैं)। कारण उनके नामों को शिलालेखों में सुरक्षित रखने व लिपिबद्ध करने की परम्परा प्रायः नहीं है। इसी कारण से सभी आचार्यों के माता-पिता के सम्बंध में ऐतिहासिक आधार नहीं मिलते। गुरुओं के

नाम तो किसी न किसी रूप में उपलब्ध होते हैं; परन्तु परम वीतरागी, जिनमुद्राधारी और लौकिक जीवन से अत्यन्त निस्पृह आचार्य कुन्दकुन्ददेव के गुरु का निश्चित नाम नहीं मिलता।

आचार्य कुंदकुंद द्वारा लिखित सीसेण भद्दबाहुस्स[१] इस उद्धरण से उनके गुरू कौन से भद्रबाहु थे ? यह स्पष्ट नहीं होता। इन महामुनिराज को तो अपने आत्मकल्याण के अतिरिक्त किसी की भी आवश्यकता नहीं थी—ऐसा ही प्रतीत होता है।

मुनीश्वर शुद्धोपयोगरूप परमसुखदायक अवस्था को छोड़कर बाहर आना ही नहीं चाहते हैं। कारण कि महापुरुष पुण्यमय शुभोपयोग में आना भी मुनिधर्म का अपवाद-मार्ग मानते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मिक जीवन व्यतीत करनेवाले महापुरुषों को अपनी जन्मभूमि, माता-पिता और गुरुपरम्परा इत्यादि का स्मरण भी कैसे हो सकता है ? केवल बाह्य घटनाओं को महत्व देनेवाले सामान्य, तुच्छ, लौकिक पुरूषों को ही जन्मभूमि माता-पितादि को नाम लिखने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चरित्र की अधिकता से प्रधान पद प्राप्त करके वे संघ में नायक थे। वे मुख्यरूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही मग्न रहते थे। कदाचित् किसी धर्म-लोभी जीव की याचना सुनकर रागांश के उदय से करूणाबुद्धि होने पर धर्मोपदेश देते थे। जो स्वयं दीक्षा-ग्राहक बनकर आते थे उन्हें दीक्षा देते थे। जो अपने दोषों को प्रगट करते थे, उन्हें प्रायश्चित्त विधि से शुद्ध करते थे। इस प्रकार संघ का संचालन करते थे।

---

१. बोध पाहुड, गाथा ६१.

विभिन्न प्रान्तों में विहार करते हुए पात्र जीवों को उपदेश देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द देव पोन्नूर गाँव के पास पर्वत पर पहुँचे। उसी पोन्नूर पर्वत को तपोभूमि के रूप में चुनकर मुनिसंघ को आस-पास विहार करने के लिए आदेश दिया। स्वयं उसी पर्वत की एक अकृत्रिम गुफा में तपस्या करने के लिए बैठ गये। पक्षोपवास, मासोपवास आदि व्रताचरण करते हुए इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों में प्रवर्तमान ज्ञान को अपने में समेटकर वे विचार करते थे

"परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होनेवाली आत्मा की पर्यायें-अवस्थाएँ मेरी नहीं हैं, वे विभावरूप नैमित्तिक भाव हैं। उनका मैं कर्ता भी नहीं हूँ। मोह-राग-द्वेषादि सर्व भाव विभावरूप हैं। मेरा स्वभाव मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। परद्रव्य में अहंकार-ममकारभाव ये दुःखदायक भ्रान्ति है। भ्रान्ति स्वभावरूप तथा सुखदायक कैसे हो सकती है ? मैं तो सच्चिदानंदस्वरूपी हूँ। मैं अपने सुखदायक ज्ञाता दृष्टा स्वभाव का कर्ता-भोक्ता बनकर स्वरूप में रमण करूँ।"

इस प्रकार भेदज्ञान के बल से योगिवर्य प्रमत्त दशा में पहुँचते थे। वहाँ शुद्धात्मा के रस का आस्वादन करके आनंदित हो जाते थे। फिर प्रमत्त अवस्था में आते थे। पुनः-पुनः शुद्धात्मा के आश्रयरूप तीव्र पुरुषार्थ कर के अप्रमत्त अवस्था में जाते थे। इस प्रकार अंतरंग में तीव्र पुरुषार्थ की धारा अखण्ड चलती थी बाह्य में जैसा पद्मासन लगाकर बैठे रहते थे, उसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता था। वे दर्शकों को पाषाण मूर्ति के समान ही अचल दिखाई देते थे।

वास्तविक रूप से देखा जाय तो शरीरादि किसी भी परद्रव्य की क्रिया आत्मा ने आज तक कभी की ही नहीं, भविष्य में भी नहीं

करेगा और वर्तमान में भी नहीं कर रहा है। वह कार्य आत्मा की सीमा से बाह्य है। अज्ञानी अपनी इस मर्यादा को लांघने के अन्यायरूप विचार से ही दुःखी होता है।

दिन-रात, पक्ष-मास एक के बाद एक आकर भूतकाल के गर्भ में समा रहे थे। पर भावसमाधि में निमग्न मुनिराज कुंदकुंद को समाधि भंग हो जाने पर पुनः भावसमाधि के लिए ही पुरुषार्थ करनेवाले समाधिसम्राट को इन सबका ज्ञान कैसे होता ? अपनी देह की ही चिन्ता जिन्हें नहीं, उन महान पुरुष को इस लौकिक प्रपंच का ज्ञान कैसे होता ? जब तीव्र पुरुषार्थ मंद पड़ने पर वे शुद्धोपयोग से शुभोपयोग में आते थे तो सोचते थे–

"अहो आश्चर्य ! इस जड़ शरीर का संयोग अभी भी है ?"

कुंदकुदाचार्य ध्यानावस्था– आत्मगुफा से बाहर आकर और पाषाण गुफा से भी बाहर आकर जब कभी पर्वत तथा सुदूर प्रदेश पर सहज निर्विकार दृष्टिपात करते थे तब स्मृति पटल पर मुनिसंघ का चित्र अंकित/प्रतिबिंबित होता था। उस समय शरीर के लिए आवश्यक और ध्यान में निमित्तभूत आहार के लिए निकलने का विकल्प उठता था। तत्क्षण पर्वत पर से नीचे उतरकर चर्या के लिए पोन्नूर गाँव में गमन करते थे। आहार करते ही कड़ी धूप में ही फिर पर्वत पर पहुँच जाते थे।

"आहार के लिए कल फिर उतरना ही पड़ेगा अतः पर्वत पर न जाकर बीच में ही कहीं ध्यान के लिए बैठें" ऐसे विचार मन में कभी भी नहीं आते थे। "आज आहार लिया है, अब फिर आहार लिए बिना ही निराहारी केवली बनना है " ऐसे उग्र पुरुषार्थी चिंतन

की कांति उनके मुख-मण्डल पर झलकती थी। धन्य! धन्य! मुनिजीवन।

एक दिन सहज ही पश्चिम दिशा में स्थित गुफा की ओर गमन किया। जिसका प्रवेश-द्वार छोटा है और जिसके अन्दर एक ही व्यक्ति पद्मासन लगाकर बैठ सकता है ऐसी गुफा में जाकर ध्यान में बैठ गये। तीव्र पुरुषार्थ करके ध्यान द्वारा लौकिक विश्व से दूर-अतिदूर अलौकिक विश्व में पहुँच गये। आत्मानंद सागर में गहरे डूब गये। सिद्धों के समान स्वशुद्धात्मा का सहज अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद प्राप्त किया। साध्य-साधक भाव का अभाव होने से द्वैत का अभाव करके अद्वैत बन गये, उसमें ही मग्न हो गये। ऐसे काल में पूर्वबद्ध पापकर्मों का स्वयमेव नाश हो रहा था। अनिच्छापूर्वक ही स्वयमेव पुण्य का संचय हो रहा था। धर्म अर्थात् वीतरागता तो बढ़ ही रही थी। ज्ञानज्योति का प्रकाश भी फैलता गया। इसप्रकार सम्यक् तपानुष्ठान के सामर्थ्य से योगीश्वर कुन्दकुन्दाचार्य को अनेकानेक ऋद्धियों की प्राप्ति हो गई। परन्तु उन्हें सहज प्राप्त ऋद्धियों का भी मोह नहीं था। वीतरागी दिगम्बर मुनि महाराज का स्वरूप ही ऐसा होता है।

चातुर्मास समाप्त होने पर मुनिसंघ सहज ही आचार्यश्री के दर्शनार्थ आया। गुरुदर्शन के समय संघस्थ मुनिराजों के ज्ञान में आ ही गया कि अपने गुरु को अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हैं। पहले से भी संघस्थ मुनिराजों में गुरु के प्रति भक्ति भाव बढ़ना स्वाभाविक ही था। वे सोचने लगे--"ये आचार्य नहीं मानों भगवान बन चुके हैं। नहीं, नहीं, प्रत्यक्ष भगवान ही हैं। इनकी योगशक्ति, प्रतिभा और

पवित्रता के सामने कौन नतमस्तक नहीं होगा ? मलयदेश के राजा शिवमृगेश ने इस महापुरुष का एक ही बार दर्शन करके अपने परम्परागत कुलधर्म का त्याग कर जैनधर्म को स्वीकार किया ही है। उस राजा के निमित्त से आचार्य महाराज ने तिरूक्कुरल[1] ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ के प्रारम्भिक पद्य से ही शिवमृगेश राजा मंत्र मुग्ध सा हो गया था। जैसे–

अगरमुदलवेलुत्तेला मादि ।
भगवन् मुदरे युलगु ॥

अर्थ : जैसे अक्षरों में अकार प्रथम है वैसे ही लोक में (आदिनाथ) ऋषभदेव भगवान प्रथम हैं।

वेण्डुदल वेण्डमैयिलानडि शेरन्दार ।
क्कियाण्डु मिडुमेयिल ॥

अर्थ : भगवान् को कोई इष्ट भी नहीं है और अनिष्ट भी नहीं है। उनकी भक्ति करनेवाले उन जैसे राग-द्वेष रहित हो जाते हैं, और वे सदा-सदा के लिए दुःखरहित हो जाते हैं।

मनत्तुक्कण माशिलनादलनैत्तरन् ।
आगुलनीर पिर ॥

अर्थ : मन में दोष हो तो काय और वचन भी दोष युक्त हो जाते हैं। बाह्य में धर्म कार्य करते हुए भी मन के दोष से वे कार्य अधर्मरूप से परिणमित हो जाते हैं। निर्दोष मन से युक्त कार्य धर्म कहलाता है।

---

१. तिरूक्कुरल जैनाचार्य की कृति होने पर भी कुछ विद्वान कुंदकुन्द की रचनाधर्मिता के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं। परन्तु इसमें मतैक्य नहीं है।

इस प्रकार मुनिसंघ तिरुक्कुरल का महत्व अपने मन ही मन में सोच रहा था, इसी बीच में– "राजाधिराज, मलयदेशवल्लभ, पल्लवकुल गगनचन्द्र, कुन्दकुन्दपाद पद्मोपजीवी, सत्यप्रिय श्री शिवस्कन्धवर्मा[1] महाराज पराकु -जय पराकु।"

ऐसी आवाज नीलगिरी पर्वत के बीहड़ वन में गूँज उठी और पोन्नूर पर्वत-शिखर से टकराने पर प्रतिध्वनित हुई। यह आवाज शिवस्कंधवर्मा राजा के आगमन की सूचना दे रही थी।

प्रभातकाल में आचार्यदेव के सान्निध्य में रहनेवाले महामुनिराज दशभक्ति का पाठ कर रहे थे–

वीसं तु जिणवरिंदा, अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

इस गाथा का चौथा चरण णिव्वाणगया णमो तेसिं। उच्चारण करते-करते मुनिसंघ के मनः चक्षु के सामने सम्मेद शिखर से निर्वाण प्राप्त वीस तीर्थकरों का दिव्य-भव्यचरित्र साकार हो जाता था और तत्काल ही सर्व मुनिराज नतमस्तक होते थे। सिद्धक्षेत्र का वह विशिष्ट, शांत, पवित्र प्रदेश उनके मन में रेखांकित सा हो जाता था।

उसीसमय हेमग्राम से आये हुए शिवस्कन्धवर्मा अपरनाम शिवकुमार राजा ने अपने परिवार के साथ आकर आचार्य के चरण कमलों की वंदना की। आचार्य श्री के सान्निध्य में वह राजा पूर्वाचल

---

१. प्रो. ए. चक्रवर्ती पल्लव वंश के शिवस्कन्धवर्मा राजा को टीका में निर्दिष्ट शिवकुमार मानकर उसका समय ई. स. पूर्व अर्ध शताब्दी मानते हैं।

से उदित बाल-भास्कर के समान मनोहर होते हुए भी छोटा लगता था। आचार्यश्री ने पहले अपने मुनिसंघ पर और बाद में राजा पर अपनी कृपादृष्टि डाली। मानों सबको मौन आशीर्वाद ही दिया हो। तदनंतर सामने दूर तक शून्यदृष्टि से देखते रहे। आचार्य महाराज के मूक संकेतानुसार एक मुनीश्वर ने राजा से पूछा–

राजन्। "आप पोन्नूर ग्राम से ही आये हैं न ?"

"हाँ गुरुदेव ! कल रात को हेमग्राम में ही मुकाम था–रुकना पड़ा। हेगड़ेजी (श्रेष्ठ व्यक्ति) का आग्रह रहा। नहीं, नहीं, हमारे पाप का उदय ! ऐसी ही होनहार थी। कल ही पर्वत चढ़कर आपके दर्शन करने के भाव थे। परन्तु–सूर्यास्त होने से ...." इस प्रकार अपने को अपराधी मानते हुआ राजा ने सखेद कहा।

"आज आचार्य का विहार होगा यह बात आप जानते ही होंगे"

इस वाक्य को सुनते ही शिवकुमार के हृदय को झटका-सा लगा। कुछ बोले नहीं, उस राजा के पास बोलने लायक था भी क्या? क्योंकि वह जानते ही थे कि चातुर्मास समाप्त होने पर संघ का विहार क्रमप्राप्त था। तथापि रागवश राजा सोचने लगे –इस मलयदेश से धर्म ही के निकल जाने पर यहाँ क्या शेष रहेगा ? **आचार्य का ससंघ विहार होना अर्थात् धर्म का निर्गमन ही तो है। धर्मात्मा के जाने पर यहाँ क्या शेष रहेगा ? धन-वैभव, राज्य-ऐश्वर्य सब धर्म के अभाव में निरर्थक है। व्यर्थ है। साधु अर्थात् साक्षात् धर्ममूर्ति से ही धरा सुशोभित होती है।**

अश्रुपूरित नयनों से राजा ने आचार्य श्री की ओर निहारा। आचार्य श्री ने भी धर्मवात्सल्य मुद्रा से राजा को देखा। उसी समय

मोह परिणामों को दूर करने में समर्थ ऐसे भावगर्भित वचन आचार्य के मुख से निकले—

एगो मे सस्सदो अप्पा, णाणदंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥

राजा शिवस्कन्धवर्मा वर्षायोग में अनेक बार वन में आचार्यदेव के सान्निध्य में आये थे। उनसे धर्मलाभ प्राप्त किया था। उनके प्रत्यक्ष जीवन, उपदेशित वीतराग धर्म, वस्तुतत्त्वपरक कथन आदि से वे प्रभावित थे। घर में स्वयं साधर्मियों के साथ स्वान्तःसुखाय प्रवचनसार और पंचास्तिकाय का स्वाध्याय मनोयोगपूर्वक किया था। कठिन विषयों का समाधान आचार्य से प्राप्त करके निःशंक हुए थे। भावपाहुड़ ग्रंथ का परिपूर्ण भाव समझने की तीव्र अभिलाषा थी। अतः भावपाहुड़ ग्रंथ का स्वाध्याय प्रारंभ किया था।

राजा के मानस पटल पर उपर्युक्त गाथा का अमिट प्रभाव था। इसलिये णमोकर महामंत्र के समान इस गाथा के भाव पर बहुधा मनन-चिन्तन किया करते थे।

"ज्ञान-दर्शन लक्षणस्वरूप शाश्वत एक आत्मा ही मैं हूँ, मेरा है और शेष सभी भाव बाह्य हैं, संयोगस्वरूप पर है।"

"अहो! सुखद आश्चर्य! मेरे मन में उत्पन्न होने वाले ये पुण्यमय शुभभाव भी पर ही हैं। तब पर द्रव्यों का और उनकी अवस्थाओं का तो मेरे साथ सम्बन्ध कैसा? और मेरे हित के लिए उनका मूल्य भी क्या?"

आज आचार्य श्री के सामने भी इसी गाथा का भाव उभर कर मन में आ रहा था। यह गाथा उनके हृदय में प्रवेश करके सतत

अपूर्व-अद्‌भुत प्रेरणा दे रही थी। अंतरंग की गहराई से कुछ नया परिवर्तन भी बाहर आना चाहता था। उसके प्रगट होते ही, राजा के बाह्यांगों में भी सहजरूप से हलन-चलन प्रारंभ हो गया। गाथा के एक पद के उच्चारण के साथ शरीर से भी एक-एक वस्त्राभूषण निकलना प्रारंभ हुआ।

सूर्य के समान चमकने वाले मस्तक का मनोहर राजमुकुट मस्तक से उतर गया। सर्वांग को आवृत्त करनेवाला जरतारी शोभादायक धवल दुकूल दूर हो गया। गले की शोभा बढ़ानेवाले नवरत्न हार ने भी अपना स्थान त्याग दिया। धारण की हुई वज्र की अंगूठी और भुजकीर्ति ढीले होकर गिर पड़े।

आज राजा ने न जाने किस शुभ मुहूर्त में पर्वतारोहण किया था। मानों पर्वत पर चरण रखते ही मोक्षमार्गारोहण भी प्रारंभ हो गया। उपस्थित नर-नारी राजा के इस त्यागमय जीवन का वैराग्यमय दृश्य आश्चर्यचकित होकर देख रहे थे। सारा मुनिसंघ जानता था कि यह प्रभाव भावपाहुड़ शास्त्र के स्वाध्याय का है।

राजा शिवस्कन्धवर्मा का दीक्षा ग्रहण और मुनिसंघ का तमिलनाड से विहार करने का समाचार विद्युत वेग से आस-पास के गांवों में फैल गया। राजा शिवस्कन्धवर्मा के प्रेमाग्रह से और कुछ दिन मुनिसंघ तमिलनाड में रह सकता है, ऐसे समझने वाले लोगों को राजा का दीक्षाग्रहण करना निराशा का कारण बन गया। मुनिसंघ को रुकने के लिए आग्रह करनेवाला राजा ही परम दिगंबर मुनि बनकर उनके पीछे छाया के समान चल दिया तो संघ को कौन रोक सकता था? इसी कारण राजकुमार, श्रेष्ठीवर्ग और अन्य

प्रतिष्ठित महानुभावों ने मुनिसंघ को रुकने की प्रार्थना करने हेतु पहाड़ पर चढ़ना प्रारंभ किया। संघस्थ मुनीश्वरों की सहज दृष्टि पहाड़ चढ़नेवाले जनसमूह की ओर गयी और उनके मन में विचार आया–जैसे राजा शिवस्कन्धवर्मा ने अकस्मात् दीक्षा लेकर सबको सुखद आश्चर्य में डाल दिया, वैसे ही आश्चर्यकारक नया क्या होनेवाला है ?"

कुछ क्षण के बाद वह जन-समुदाय मुनिसंघ के निकट आ गया।

आचार्यवर्य कभी विश्व-स्वरूप पर चिन्तन करते थे, कभी भावनालोक में विचरते थे तो कभी शून्य व अनिमेष दृष्टि से दूर पर्यंत देर तक देखते रहते थे। उनका मन सुपरिचित क्षेत्र से अत्यंत दूर साक्षात् केवली दर्शन के लिए उत्कंठित होता रहता था।

"पर छठवें गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत साधु औदारिक शरीर के साथ पंचमकाल में विदेहक्षेत्र में कैसे जा सकेगा ?" ऐसे विचार के तत्काल बाद ही दूसरा विचार यह भी आता था कि काल द्रव्य तो परमाणु मात्र है, जड़ है। अज्ञानी और पुरुषार्थहीन लोग ही कालादि परद्रव्य के ऊपर अपनी पुरुषार्थहीनता का आरोप लगाते हैं। ऐसा विचार योग्य नहीं। असंयम के परिहारपूर्वक चारण सिद्धि के माध्यम से वहां जाना संभव है।

इसी बीच जनसमुदाय ने आकर मुनिसंघ की भक्तिभाव से वंदना करके प्रार्थना की मुद्रा में आशागर्भित दृष्टि से आचार्यदेव के मुखकमल को निहारा। तब विशिष्ट चिन्तन में निमग्न आचार्य महाराज ने ध्यान टूटने पर प्रश्नभरी दृष्टि से श्रावक समूह और मुनिसंघ की ओर दृष्टि डाली। आचार्यश्री के भाव को समझकर

चिन्तामग्न राजकुमार ने अपने स्थान पर खड़े होकर नम्रता से करबद्ध होकर निवेदन किया।

भगवन् ! दिगम्बर महासन्तों को कुछ दिन यहीं रहने के लिए रोकने का अनधिकारी यह श्रावकसमूह आपके प्रति भक्ति तथा श्रद्धा के कारण योग्यायोग्य का विचार न करते हुए वीतरागता को राग से प्राप्त करने का अज्ञान कर रहा है। आपके तथा धर्म के ऊपर हमारी वास्तविक श्रद्धा है। हमारे लिए भी यही श्रेयस्कर है कि हम पिताश्री (राजा शिवस्कन्धवर्मा) के मार्ग का अनुसरण करें। साधु (आचार्य कुंदकुंद) पर समर्पित उनका मन साधुत्व पर भी समर्पित हुआ इसलिए वे स्वयं साधु बन गये। परन्तु उन जैसा तीव्र-उग्र पुरुषार्थ करने का सामर्थ्य हम अपने में नहीं पा रहे हैं। अतः आपके चरणकमलों की धूल से यह पर्वत-प्रदेश और कुछ काल तक पवित्र होता रहे और हमारी पात्रता को प्रेरित करता रहे—यह नम्र निवेदन है। आपकी कृपा होगी—ऐसी आशा है।

श्रमणसंघ और श्रावक समूह इस नम्र निवदेन को सुन रहा था, परन्तु आचार्यश्री की दृष्टि पूर्वदिशा की ओर केन्द्रित थी। राजकुमार का निवेदन समाप्त होते ही सभी की दृष्टि आचार्य की ओर आकर्षित हुई। दूसरे ही क्षण आचार्य जिस स्थान पर दृष्टि लगाये बैठे थे, सभी लोगों ने उसी ओर देखा तो आकाश में दूर कुछ प्रकाश-सा दिखायी दिया। कौतूहल/जिज्ञासा से उसी ओर अपलक दृष्टि से देखते रहने पर तेजोमय मेघ के समान कुछ अद्भुत-सा दृश्य दिखायी दिया। क्या यह सूर्य है ? नहीं, नहीं। सूर्य तो अस्ताचल की ओर

ढल रहा है। तो क्या यह नक्षत्र मण्डल है ? नहीं। अहो आश्चर्य ! एक से दो हो गये। ऐसा लग रहा है कि दो प्रकाशपुंज इधर ही आ रहे हैं। जमीन पर उतर रहे हैं। नहीं, नहीं। जमीन से स्पर्श न करते हुए अधर हैं। अहो ! मानवाकृतियाँ ! नहीं, नहीं। महामुनि ! नहीं, ये तो चारणऋद्धिधारी मुनि युगल हैं। धन्य ! धन्य ! वे मुनि आचार्यश्री की गुफा की ओर जा रहे हैं। श्रमणकुलतिलक आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शनार्थ आये होंगे।

अहो ! चारणऋद्धिधारी मुनिराज भी इस मानव-महर्षि की वंदना कर रहे हैं। अहो ! इनके तप की महिमा कितनी अपार है।

"भगवन ! विश्ववन्द्य! वन्दे, वन्दे, वन्दे।"

कुछ काल मौन धारण कर आचार्य कुन्दकुन्द देव ने निज मति को अन्तर्लीन किया। "विश्ववन्द्य, भगवन् आदि मेरे लिए प्रयुक्त विशेषण-उपाधियाँ मेरे योग्य नहीं हैं। ये उपाधियाँ सम्बोधनकर्ता की महानता को बताती हैं।" इस प्रकार विचार करके आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने चारण-मुनियों की प्रतिवन्दना की।

चारण-मुनियों ने तत्काल उनको रोककर कहा-

"भगवन् यह क्या ?"

"कुछ नहीं, यही योग्य है।"

"इसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विदेहक्षेत्रस्थ की श्री सीमन्धर तीर्थंकर देव के समोसरण में गणधरदेव की उपस्थिति में आपके अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की विशिष्ट चर्चा सुनकर ही हम आपके दर्शनार्थ आये हैं।"

"पूज्यपाद गणधरदेव की क्या आज्ञा है ?"

"परम स्वतन्त्र वीतराग जैनधर्म में दीक्षित वीतरागी, दिगम्बर महामुनीश्वरों के बीच बोध्य-बोधक भाव को छोड़कर अन्य किसी सम्बन्ध को अवकाश ही कहाँ है ? आप जैसों के लिए उनकी आज्ञा की क्या आवश्यकता हैं ?"

चारण मुनिद्वय कुछ समय पर्यंत मौन रहे, फिर नयन निमीलित करके अल्पसमय तक विचार किया। फिर मुनिपुंगव की भावना को जानकर गंभीरतापूर्वक निर्णयात्मक रीति से कर्णमधुर वाणी में बोले–

"क्या आपको विहरमान तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवान के साक्षात दर्शन करने की अभिलाषा है ?"

"महाविदेह क्षेत्र में जाने की अभिलाषा तो तीव्र है ही किन्तु.....

"किन्तु-परन्तु क्यों ? आपको चारणऋद्धि प्राप्त हुई है। ऋद्धि के अभाव में भी आप जैसे भगवत्स्वरूप के लिए कौन-सा कार्य असंभव है ?"

आचार्य कुन्दकुन्द देव को प्राप्त चारणऋद्धि का संतोषकारक समाचार इसके पहले किसी को भी विदित नहीं था। चारण मुनियों के मुखकमल से विनिर्गत इस विषय को सुनकर श्रावक समूह और श्रमण-संघ को अत्यानंद हुआ। सभी सोचने लगे–

"इस चातुर्मास में आत्मा की उग्र साधना के फलस्वरूप यह ऋद्धि प्राप्त हुई होगी। असाधारण आत्माराधना का फल ऐसा अद्भुत ही होता है। इसमें अज्ञानियों को ही आश्चर्य होता है, ज्ञानियों को नहीं। परमोपकारी आचार्य परमेष्ठी ने अपने तप के प्रभाव से पंचम

काल को चतुर्थ काल सा बना दिया। इस प्रकार के साधु-संतों से सहित यह भारत-भूमि परम पुनीत है, धन्य है।"

देखते-देखते ही रत्न की प्रभा के समान उन तीनों ही महामुनीश्वरों के शरीर से चारों ओर प्रभा-वलय फैल गया। मानो उषाकालीन लोकव्यापी बालभास्कर के सुखद, सुन्दर और स्वर्ण-अरुण किरणों से वह पर्वत कंचनमय बन गया हो। इसी ऐतिहासिक आश्चर्यकारी घटना से इस पर्वत को पौनूरमलै-पौन्नूरबेट्ट यह नाम मिला होगा।[१]

वह आभा-मण्डल उसी रूप में आकाश की ओर बढ़ा और बढ़ते-बढ़ते आगे आगे ही चलता रहा। वह प्रभा मण्डल अति दूर गया। प्रथम तो तीन ही ऋषीश्वर तीन कांतिमय रेखा समान प्रतीत हो रहे थे, बाद में दो, तदनन्तर एक ही प्रकाश-पुंजरूप दृष्टिगोचर हो रहे थे। अब तो वह प्रकाश मात्र नक्षत्राकार ही लगने लगा।

अन्त में चक्षुरिन्द्रिय के सामर्थ्य के अभाव से अनंत आकाश में आकार रहित निराकार बनकर अदृश्य हो गया। इस तरह भूमिगोचरी मानवों को महापुण्योदय से एक अंतर्मुहुर्त पर्यंत स्वर्गीय सौन्दर्य के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इस आश्चर्यकारी, अद्‌भुत और अपूर्व दृश्य को मूक विस्मय से देखनेवाले श्रावकसमूह तथा साधुसंघ ने स्वयमेव सोत्साह आचार्य कुन्दकुन्द के नाम का तीन बार उच्च स्वरों में जय-जयकार किया।

---

१. पोन्न शब्द का अर्थ सोना (कन्नड़ तथा तमिल भाषा में) मलै-पर्वत (तमिल भाषा में) बेट्ट-पर्वत (कन्नड़ भाषा में)

इस जयघोष की ध्वनि गिरि कन्दरों में न समाती हुई अनंत आकाश में गुंजायमान हो उठी।

जयघोष ध्वनि की अनुगूंज के साथ ही अत्यन्त कर्णप्रिय, ललित, गंभीर व स्पष्ट ध्वनितरंग सायंकालीन शीतल हवा में फैल गयी। यह ध्वनि पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर दसों दिशाओं में समान रीति से व्याप्त हो गयी। दक्षिणोत्तर ध्रुवप्रदेश भी इस ध्वनि से अपरिचित नहीं रहे। इस मंद, मधुर तथा स्पष्ट ध्वनिप्रवाह को सुननेवालों के हृदयकपाट सहज खुल गए। अपरिचित मंजुल-मनमोहक ध्वनि सुनकर सभी स्वयमेव मंत्रमुग्ध से हो गए। इस अनुगूंज ने सहज ही निम्नांकित श्लोकरूप में प्रसिद्धि प्राप्त की।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥[1]

इस प्रकार यह ज्ञानगर्भित भक्तिपरक श्लोक दिगन्त में फैल गया। पोन्नूर पर्वत पर विराजमान मुनिसंघ के मुखकमलों से भी यह श्लोक पुनः पुनः मुखरित होने लगा।। जो कि आज भी भव्यों का कंठहार बना हुआ है और भविष्य में बना रहेगा।

श्लोककर्त्ता के सम्बन्ध में न्हीं किसी को ज्ञान था, न ही जानने की उत्कंठा और न ही कर्त्ता कों जानने का लोभ भी। होवे भी क्यों?

संघ में सभी दिगम्बर महा मुनीश्वर आत्मरस के ही रसिक होते हैं। उन्हें इस प्रकार की अप्रयोजनभूत जिज्ञासा नहीं होती।

---

१. मंगलं भगवदो वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कोण्डकुंदाई, जेण्हधम्मोत्थु मंगलं॥
यह मूल प्राकृत पद उपर्युक्त रीति से संस्कृत श्लोकरूप में परिवर्तित हुआ है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने पंचमकाल में तीर्थंकर भगवान का साक्षात् दर्शन किया। पूर्व ज्ञात यथार्थ आगम ज्ञान दिव्यध्वनि सुनकर स्पष्ट तथा विशदता को प्राप्त हुआ एवं आत्मानुभूति प्रगाढ़ता को प्राप्त हुई। एवं जीवोद्धारक अनादिनिधन परम सत्य तत्त्व लोगों को समझाया : लिपिबद्ध भी किया। यह शास्त्र लेखन का कार्य वस्तुतत्त्व का निर्णय करके आत्महित के मार्ग में संलग्न होने के अभिलाषी भव्य जीवों के लिए एकमेव महान उपकारी उपाय है। इसलिए भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्ददेव को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है यह उचित ही है।

इन आचार्य को "कलिकाल सर्वज्ञ" जैसे महान आदर सूचक शब्दों से शास्त्रों में स्मरण किया गया है। यह तथ्य इस विश्वास को और भी दृढ़ता प्रदान करता है कि भरतक्षेत्र में आचार्य के विचरण का जो काल विक्रम की पहली शताब्दी निर्धारित किया गया है, इससे भी उनका काल प्राचीन होना चाहिए। स्वयं आचार्य ने अपने बोधपाहुड़ ग्रंथ में अपने को सीसेण या भद्दबाहुस्स (भद्रबाहु का शिष्य) सम्बोधित किया है। इससे आचार्य का अस्तित्व काल ई. स. पूर्व होना चाहिए ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है।[१]

---

१. मुझे लगता है कि आचार्य कुन्दकुन्द का काल विक्रम की प्रथम शताब्दी से बहुत पूर्व का था, क्योंकि आचार्य द्वारा रचित किसी भी ग्रंथ में उन्होंने अपना परिचय नहीं दिया है। पर बोधपाहुड़ की ६१-६२वीं गाथाओं को पढ़ने के बाद बोधपाहुड़ श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य की कृति है ऐसा ज्ञात होता है। और बोधपाहुड़ यह ग्रंथ आचार्य कुन्दकुन्ददेव की कृति है, यह विषय निर्विवाद है। इससे स्पष्ट होता है कि वे श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य थे। इस स्थिति में आचार्य कुन्दकुंन्द का समय विक्रम शताब्दी से बहुत पहले का है। श्री रामप्रसाद जैन (अष्टपाहुड़ भूमिका, पृष्ठ ७-८

बोधपाहुड़ ग्रंथ की ६२वीं गाथा में "बारह अंग का ज्ञाता और चौदह पूर्व का विस्तार से प्रचार करने वाले श्रुतकेवली भगवान भद्रबाहु (मेरे) गमकगुरु जयवन्त रहें!" इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द देव ने घोषणा की है।[1]

अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को छोड़कर यदि दूसरे ही मुनि, आचार्य कुन्दकुन्द देव के गुरु होते तो वे अपने गुरु के रूप में उनका नामोल्लेख अवश्य करते। क्योंकि अपने वास्तविक गुरु को छोड़कर श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपने गुरु के रूप में घोषित करना और स्वयं उनका शिष्य नहीं होने पर भी अपने आपको शिष्य के रूप में घोषित करना, पंचमहाव्रत के पालन करनेवाले आचार्य द्वारा कैसे संभव होगा? क्यों करेंगे?

आचार्य ने स्वयं समयसार ग्रंथ के मंगलाचरण में कहा है कि "**वोच्छामि समयपाहुड़मिणमो सुदकेवली भणिदं**" अर्थात् मैं (कुन्दकुन्द) श्रुतकेवली (भद्रबाहु स्वामी) द्वारा कहा हुआ समयपाहुड़ कहता हूँ।

आचार्यदेव ने सूत्रपाहुड़ ग्रंथ के गाथा क्रमांक २३ में कहा है– "वस्त्र धारण करने वाले मुनि चाहे भले तीर्थंकर ही क्यों न हों तो भी वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेंगे, क्योंकि नग्न-दिगम्बर भेष ही मोक्षमार्ग है।"[2]

---

१. बारस अंगवियाणं, चउदस पुव्वंग विउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहु, गमयगुरु, मयवओ जयउ॥

२. णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥

उसी प्रकार इस ही सूत्रपाहुड़ ग्रंथ के गाथा क्रमांक १८ में कहा है– "नग्न-दिगम्बर अवस्था अर्थात् यथाजात रूप अवस्था धारण करने वाले मुनि यदि तिलतुषमात्र भी परिग्रह ग्रहण करेंगे तो वे निगोद में जायेंगे।"[1]

इस प्रकार की गाथाओं की रचना का कारण धार्मिक क्षेत्र में उत्पन्न मतभेद और साधु समाज में बढ़ता हुआ शिथिलाचार ही होना चाहिए–ऐसा लगता है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने "उत्तर भारत में बारह वर्ष का अकाल रहेगा" ऐसा निमित्तज्ञान से जाना था। अनादिकाल से अखण्ड चली आ रही पवित्र दिगम्बर साधु परम्परा के संरक्षण के लिए सनातन सत्य, वीतराग जैनधर्म की सुरक्षा के लिए अपने संघ के दिगम्बर साधु शिष्यों के साथ उन्होंने दक्षिण भारत में पदार्पण किया। किन्तु कुछ दिगम्बर मुनि आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण में नहीं आये, उत्तर भारत में ही रहे। उत्तर भारत में भयानक अकाल के कारण दिगम्बर साधु अवस्था का निर्वाह होना कठिन हो गया। अतः साधु अचेल अवस्था का त्याग कर सचेलक बन गए–श्वेत वस्त्रों को अंगीकार करने लगे। अकाल समाप्ति के बाद स्वीकृत वस्त्र व अन्य शिथिलाचार का त्याग नहीं किया। उल्टा शिथिलाचार को ही धर्म का स्वरूप प्राप्त हो–ऐसा प्रचार प्रारंभ किया। इसके लिए प्राचीन द्वादशांग के नाम पर कल्पित शास्त्रों की रचना की गई। मोक्षप्राप्ति

---

१. जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम्॥

का शिथिलाचार सहित सुलभ मार्ग सामान्यजनों को सुहावना लगने लगा; यह कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है।

सत्य, सनातन वीतराग जैनधर्म और परम पवित्र, तथा निर्दोष साधु के आचार पर प्रबल आघात हो रहा था, यह आचार्य कुन्दकुन्द को कैसे स्वीकृत हो सकता था ? यह विकृति दूर हो—ऐसी धर्मभावना दिन-प्रतिदिन आचार्य श्री के मन में बलवान होती जा रही थी। ऐसे समय में गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास हो गया। अतः आचार्य कुन्दकुन्द का उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया। भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित मूल सत्य वस्तुस्वरूप लोगों के गले उतारना एवं उसे लिपिबद्ध करना और निर्ग्रन्थ साधु परम्परा को यथावस्थित सुरक्षित रखना एवं भविष्य के लिए बढ़ाते रहना इन बातों की अनिवार्य आवश्यकता आचार्य को तीव्रता से महसूस हुई। अतः जनजागृति और धर्मप्रचार के लिए पूर्ण भारत में विहार किया।

मूल अचेल-निर्ग्रन्थ परम्परा को जनमानस में सर्वोपरि स्थान रहे—इस भावना से सत्शास्त्रों की रचना भी की। सचेल/श्वेताम्बर परम्परा का खुलेआम-स्पष्ट विरोध किया। समग्र अष्टपाहुड़ ग्रंथ एक दृष्टि से आचार संहिता ही है। इस ग्रंथ का विषय ही मुनिराज का आचार-विचार, विहार, चिंतन एवं स्वरूप ही है। इसी कारण उस समय अष्टपाहुड़ ग्रंथ सचेल परम्परा के लिए समस्या बन गया था।

आचार्य कुन्दकुन्द देव की महिमा प्राचीनता और अर्वाचीनता पर सिद्ध होने लायक कृत्रिम-बनावटी और परोपजीवी नहीं है। उनकी महिमा उनके प्रतिपादित परम सत्य व सर्वथा निराबाध वस्तुस्वरूप

तथा साक्षात आनंददायक परम अध्यात्म पर अधिष्ठित है। आचार्य द्वारा प्ररूपित एवं उनसे स्वयं अनुभूत मार्ग का जीवन में जो कोई उपयोग करेगा वह तो स्वयं सुखी होगा ही और अन्य जनों के सुख-साधन के लिए निमित्त भी बनेगा यह वस्तुस्थिति है। इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में करना आवश्यक है। यहाँ उधार एवं अंधश्रद्धा का कुछ काम नहीं है।

आचार्यदेव का चारण मुनि युगल के साथ विदेह क्षेत्र की ओर गमन हो जाने के बाद भक्त समुदाय उनके प्रत्यागमन की निरन्तर प्रतीक्षा कर रहा था। आचार्यदेव का शुभागमन कब होगा ऐसी उत्कंठा सबके मनोमंदिर में अखण्ड रूप से उछल रही थी। और दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। जिज्ञासा दिन-दूनी रात चौगुनी होती जा रही थी। तथापि गुरुदेव के आगमन विषयक कुछ भी संकेत प्राप्त नहीं हो रहा था। आचार्य श्री के विरह का एक-एक क्षण एक-एक युग के समान श्रावक समूह को खटकता था। मुनिसंघ को गुरुदर्शन की अभिलाषा थी ही। ऐसी मनःस्थिति में एक-एक करके सात दिन बीत गए।

आठवें दिन सबने सुबह से सायंकाल पर्यंत आकाश की ओर से अपनी दृष्टि हटाई ही नहीं। "हम भोजन बनाने अथवा भोजन करने बैठेंगे और यदि इतने में ही गुरुदेव का आगमन हो गया तो हम उनके दर्शन से वंचित रह जावेंगे" इन विचारों से श्रावक-श्राविकाओं ने तो भोजन का त्याग ही कर दिया। संघस्थ मुनिराजों को तो आहार के लिए गांव की ओर जाने का विकल्प ही नहीं उठा। आठवें दिन का भी सूर्यास्त हो गया। मात्र निराशा ही हाथ लगी। निराशा

के साम्राज्य में आशा की किरण के सहारे रात भर जागृत रहते हुए रात्रि व्यतीत की।

एक सप्ताह की प्रतीक्षा के बाद आज आचार्य देव पधारेंगे ही इस आशा से हजारों-श्रावक जन आस-पास के गांवों से एकत्रित हो गये। और वे पर्वत पर ही रुके रहे; घर लौटे ही नहीं।

आकाश में कभी कदाचित उल्कापात होता अथवा खद्योत-जुगनू चमकते तो सभी चौंककर उस ओर ही देखने लगते। तीव्र उत्कंठा के साथ प्रतीक्षा के बावजूद भी आचार्यश्री का शुभागमन हुआ ही नहीं। रात बीतती ही जा रही थी। प्रभात कालीन प्रकाश मंद-मंद गति से आना चाहता था। स्वर्ण किरीट धारण किए हुए उषा काल का आगमन हुआ। पक्षी समूह ने सुप्रभात का गान किया। तरु-लताओं में नवीन चैतन्य का संचार हुआ। सूर्य के शुभागमन का समय समीप था। उस समय आकाश में दूर कहीं समुद्भूत कोई आनंदकारी, मंद, मधुर ध्वनि तरंग को अधीरता से सुना और तत्काल ध्वनितरंग की दिशा में अपनी दृष्टि लगायी।

ज्योतिर्लोक से मानों नक्षत्र मण्डल ही उतर कर आ रहा हो-ऐसा प्रकाशपुंज भूमि पर उतर आया। सबकी आंखें आश्चर्यकारक दृष्टि से उस ज्योतिर्पुंज को ही देख रही थीं। समीप आते-आते वह ज्योतिर्पुंज मनुष्याकार दिखने लगा। उसे देखकर हर्षोल्हासपूर्वक जनसमूह ने "आचार्य भगवान की जय! कुन्दकुन्द भगवान की जय!" ऐसा उदघोष किया। लोग बार-बार जयघोष करने में अत्यंत आनंद का अनुभव कर रहे थे। सभी आनंद विभोर हो गये थे। इस उदघोष ध्वनि के पश्चिम पर्वत श्रेणी पर टकराकर प्रतिध्वनिरूप से

वापस आने के पूर्व ही आचार्यदेव आकाश से उतर कर पौन्नूर पर्वत पर आ गये। उसी समय उदयाचल पर बालभास्कर उदित हुए। इस ज्ञानभास्कर के धवल किरणों का प्रतिस्पर्धी बनकर तुझे इन रक्त किरणों का उगलना शोभा नहीं देता—ऐसा जानकर उस निर्मल नील गगन में छिपे हुए काले मेघखण्ड ने तत्काल बालभास्कर को आवृत्त कर दिया।

आचार्य भगवान उस दिन विदेह क्षेत्र से भरतक्षेत्र लौटे थे। अतः इस मधुर स्मृति प्रीत्यर्थ उस दिन सभी ने सर्वत्र महोत्सव मनाया। हुंडाअवसर्पिणी के निकृष्ट इस पंचमकाल में जन्म लेकर भी तीर्थंकर भगवान का साक्षात सानिध्य प्राप्त कर दर्शन कर दिव्यध्वनि का लाभ लिया। इस कारण चतुर्विध संघ ने आचार्यदेव को "कलिकालसर्वज्ञ", उपाधि से विभूषित करके अपने को गौरवान्वित माना।

आचार्यदेव जिस पर्वत से विदेहक्षेत्र गये थे और वहाँ से लौटकर जिस पर्वत पर आये थे, तपस्या की थी, शास्त्र-रचना की थी वह पौन्नूर पर्वत वर्तमान समय में **तमिलनाड प्रान्त** में है। यह पर्वत मद्रास से १३० किलोमीटर दूरी पर और वन्देवास गांव से केवल 8 किलोमीटर अंतर पर है। पर्वत के पास ही पोन्नुर पर्वत की सीढ़ियाँ प्रारंभ होती हैं। बस अड्डे से ५० फीट की दूरी पर ही पोन्नुर पर्वत की सीढियाँ प्रारंभ होती हैं। नीचे जमीन से पर्वत पर पहुंचने के लिए कुल ३२५ सीढ़ियाँ हैं।

पर्वत शिखर पर दो हजार वर्ष से भी पुराना चम्पक नाम का वृक्ष है। इस वृक्ष के पास ही आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव की अत्यन्त

प्राचीन, अतिदीर्घ, पवित्र चरणपादुकाएं हैं। इस परम पवित्र चरणचिन्हों पर ईसवी सन् १६७० में मण्डप की रचना हुई है। इन चरण पादुकाओं के दक्षिण दिशा में लगभग सौ-सौ फीट की दूरी पर दो प्राकृतिक गुफाएं हैं, जिनमें चौकाकार बड़ी शिलाएँ हैं।

गुफा का अन्तर्भाग देखते ही इसी शिलाखण्ड पर बैठकर आचार्य पुंगव ने तपस्या की थी—यह विषय स्पष्ट समझ में आ जाता है। इस गुफा में एक साथ एक ही मनुष्य प्रवेश कर सकता है, वह भी नमकर। गुफा के अन्दर भी एक ही व्यक्ति तपस्या-ध्यान के लिए बैठ सकता है। गुफा के प्रवेश द्वार के पास एक बड़ी चट्टान होने से गुफा के पास जाने पर भी यहाँ गुफा है—ऐसा ज्ञान नहीं हो पाता। आसपास का परिसर, गुफा का अन्तर भाग देखकर ध्यान के लिए सर्वोत्तम जगह है—ऐसा मनोमन-हार्दिक विचार आये बिना नहीं रहता।

पर्वत की पश्चिम दिशा में पोन्नूर गांव है। यह गांव पहाड़ से पाँच किलोमीटर दूरी पर है। पर्वत की पूर्व दिशा से ही पर्वत पर चढ़ना-उतरना संभव है। पश्चिम दिशा से पहाड़ पर उतरकर पोन्नूर पहुंचना शक्य नहीं है, क्योंकि रास्ता नहीं है। पौन्नूर गांव में श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर है। मंदिर में बारहवीं शताब्दी का एक शिलालेख है। इस शिलालेख में "श्री पार्श्वनाथ जिनबिम्ब का पौन्नूर पर्वत पर ले जाकर अभिषेक-पूजा की है" ऐसा उल्लेख मिलता है। दूसरा सतरहवीं शताब्दी का शिलालेख— उसमें "आदिनाथ कनकमलै आलवा" के मंदिर का जीर्णोद्धार किया गया है—ऐसा उत्कीर्ण किया हुआ है। ५०० वर्ष पूर्व पर्वत पर महाभिषेक हुआ था ऐसा भाव एक अन्य शिलालेख में स्पष्ट मिलता है।

अब वर्तमान काल में भी इस पर्वत पर प्रतिवर्ष मंदरपुष्प नामक उत्सव सामान्यतः जनवरी माह में मनाया जाता है। जिस प्रकार उत्तर भारत में चैत्र महीने में वर्ष का प्रारंभ मानते हैं उसी प्रकार तमिलवासी तयी मास से वर्ष का प्रारंभ मानते हैं। इस उत्सव में हजारों लोग इकट्ठे होते हैं। और आचार्य श्री की चरण पादुकाओं पर पुष्पांजलि अर्पित करके अपनी श्रद्धा-भक्ति व्यक्त करते हैं।

इस पर्वत की पूर्व दिशा से तमिलनाड प्रदेश की मोटरगाड़ियां पोन्नूर रोड से आया-जाया करती हैं। उसी रास्ते पर एक विद्यार्थी निलय है। इसमें विद्यार्थी धार्मिक और लौकिक अध्ययन करते हैं। यहीं पर एक विशाल जैन मन्दिर है। उसमें तीर्थंकर आदिनाथ, सीमन्धर, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ और बाहुबली भगवान की मूर्तियाँ हैं। मंदिर की व्यवस्था उत्तम है।

इस विद्यार्थी-निलय के ग्रन्थ भंडार में लगभग पाँच सौ ताड़पत्रीय ग्रंथ हैं। ये सभी ग्रंथ प्राकृत, संस्कृत भाषा में और ग्रंथिलिपि में लिखे गए हैं। प्राभृत त्रय की मूल भाषा प्राकृत, लिपि ग्रंथि और उन पर टीका तमिल भाषा में लिखी गई है। यहाँ ग्रन्थ तो संग्रह करके रखे गये हैं, पर शोध कार्य नहीं चल रहा है। यहां के कार्यकर्ताओं का कहना है कि "ग्रन्थि लिपि को जानने वाले विद्वान बहुत विरल हैं।

तमिल तथा कन्नड़ प्रान्तीय संस्थाओं को आचार्य कुन्दकुन्द विषयक शोध-खोज कार्य विशेष रीति से करना आवश्यक है। इससे भूगर्भ से प्राप्त अवशेषों तथा ताड़पत्रीय ग्रन्थों से प्राप्त जानकारी के आधार से कुछ नए प्रमेय हाथ लग सकते हैं। हिन्दी प्रान्तीय संस्थाओं

को तमिल तथा कन्नड़ भाषा भाषियों को इस कार्य के लिए प्रेरणा देना आवश्यक है।

आचार्य कुन्दकुन्द के विदेह गमनविषयक अनेक ऐतिहासिक प्रमाण पृथ्वी के गर्भ में लुप्तप्राय हो गये हैं, जो कुछ प्रमाण, आगम और शिलालेख में अभी भी मौजूद हैं; उनका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

विक्रम संवत् दसवीं शताब्दी के देवसेनाचार्य ने दर्शनसार ग्रन्थ में लिखा है :–

जई पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहई तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

अर्थ : यदि सीमंधर स्वामी (महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकरदेव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनंदिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते ?

बारहवीं शताब्दी के जयसेनाचार्य पंचास्तिकाय टीका के प्रारंभ में लिखते हैं :–

"अथ श्रीकुमारनंदिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीसीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं-दृष्ट्वातन्मुखकमलविनिर्गत दिव्यवाणी श्रवणावधारितपदार्थात् शुद्धात्मतत्त्वादिसार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभि धेयैरन्तस्तत्त्वबहिर्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्यर्थमथवा शिवकुमारमहाराजा दिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरच्यते

पंचास्तिकाय- प्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणा धिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते ।

अर्थ :—"श्री कुमारनंदिसिद्धान्तदेव के शिष्य प्रसिद्धकथान्याय से पूर्व विदेह क्षेत्र जाकर वीतराग-सर्वज्ञ श्री सीमन्धरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर उनके मुखकमल से निसृत दिव्यध्वनि के श्रवण से शुद्धात्मादि तत्वों के साथ पदार्थो की अवधारण कर समागत श्री पद्मनंदी आदि हैं अपर नाम जिनके उन श्री कुन्दकुन्दचार्यदेव के द्वारा अन्तस्तत्व और बहितत्व को मुख्य और गौण प्रतिपत्ति के लिए अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिए रचित पंचास्तिकाय प्राभृत शास्त्र में अधिकारों के अनुसार यथाक्रम से तात्पर्यार्थ का व्याख्यान किया जाता है ।

षट्प्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागरसूरि अपनी टीका के अन्त में लिखते हैं :—

"श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छा - चार्य नाम पंचक विरा जितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरा परनामस्वयंप्रभ- जिनेनतच्छ्रुतज्ञान संबोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरि- भट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृत ग्रन्थे............."

अर्थ :—श्री पद्मनंदी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य पंचनामधारी, जमीन से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की ऋद्धि के धारी, पूर्वविदेह की पुण्डरीकिर्णानगरी में विराजित सीमन्धर अपरनाम स्वयंप्रभ तीर्थंकर से प्राप्त ज्ञान से

भरतक्षेत्र के भव्य जीवों को सम्बोधित करनेवाले श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्टे के आभरण, कलिकालसर्वज्ञ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव) रचित षटप्राभृत ग्रन्थ में ....।

सोमसेन पुराण में निम्न प्रकार उल्लेख मिलता है :

कुन्दकुन्दमुनिं वन्दे चतुरंगुलचारिणम् ।
कलिकाले कृतं येन वात्सल्यं सर्वजन्तुषु ॥

अर्थ : कलिकाल (पंचमकाल) में जिन्होंने सर्व प्राणियों पर वात्सल्य किया और जो जमीन से चार अंगुल अधर गमन करते थे, ऐसे कुन्दकुन्द मुनि की मैं वंदना करता हूँ।

बीसवीं शताब्दी के आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य का गहन अध्ययन के बाद अपने प्रवचनों (प्रवचनरत्नाकर भाग १ पृष्ठ ८१) तथा चर्चा में पुनः पुनः कहते थे :–

"भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव दो हजार वर्ष पूर्व भरतक्षेत्र में हुए थे। वे सदेह महाविदेह क्षेत्र में भगवान सीमन्धर स्वामी के समोशरण में गए थे। महाविदेह क्षेत्र में भगवान सीमन्धर स्वामी अभी भी अरहंत पद में विराजमान हैं। उनकी ५०० धनुष की काया व एक करोड़ पूर्व की आयु है। उन सीमंधर परमात्मा की सदैव दिव्यध्वनि खिरती है। वहां संवत् ४६ में कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। वे आठ दिन वहां रहे थे। वहाँ भगवान की वाणी सुनकर भरतक्षेत्र में आये। यहाँ आकर शास्त्र बनायें। यह कपोलकल्पना नहीं, वस्तुस्थिति है। प्रत्यक्ष सत्य है।"

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कोण्डकुन्दः
कुन्दप्रभाप्रणयकीर्ति विभूषिताशः ।
यश्चारुचारणकराम्बुज चंचरीक
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

—चन्द्रगिरि शिलालेख ५४/६७

अर्थ :—कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणों के चारणऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर कर-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्र आत्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं है ?

..........................कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ।
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संव्यजयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगलं सः ॥

—श्रवणबेलगोल शिलालेख १०५

अर्थ :—यतीश्वर (आचार्य कुन्दकुन्ददेव) रजःस्थान-पृथ्वीतल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिसमें मैं समझता हूँ कि वे अन्तर और बाह्य रज से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे अर्थात् वे अंतरंग में रागादि मल से तथा बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।

तस्यान्वये भूविदते बभूव यः पद्मनंदि प्रथमाभिधानः ।
श्रीकोण्डकुन्दादि मुनीश्वराख्यस्तत्सयंमादुद्गततारणर्द्धि ॥

—श्रवणबेलगोल शिलालेख ४०/६०

अर्थ :—जिनका नाम प्रारंभ से पद्मनंदि था। बाद में जिन्हें कोण्डकुन्द मुनिश्रेष्ठ यह नामाभिधान प्राप्त हुआ। मुनि अवस्था के संयम से जिन्हें 'चारणऋद्धि' प्राप्त हुई थी, ऐसे भूलोक में प्रसिद्ध......

श्रीपद्मनंदीत्यनवद्यनामाचार्यशब्दोत्तर कोण्डकुन्दः ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणार्द्धि ॥

—श्रवणबेलगोल शिलालेख ४२/४३ /४७ /५०

अर्थ :—निर्दोष और उत्स्फूर्त चारित्र से जिन्हें उत्तम चारणऋद्धि की प्राप्ति हुई थी और जिन्हें पद्मनन्दि ऐसा निर्दोष नामाभिधान था, इनका ही दूसरा नाम आचार्य कोण्डकुन्द था।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव अपने सम्यक् तपानुष्ठान के सामर्थ्य से अनुपम-अलौकिक विदेहक्षेत्र में गये। वहाँ तीर्थकर सीमन्धर भगवान के समवशरण में आठ दिन रहे। भगवान की दिव्यध्वनि साक्षात् श्रवणकर मन तो सन्तुष्ट हुआ ही था और आत्मा भी आनंदित हो उठी। आचार्यदेव सदा ज्ञान, ध्यान एवं तपोनुष्ठानों में तो निरत रहते थे ही, भगवान के साक्षात् सानिध्य से उनकी आत्मानुभूति भी प्रगाढ़ता को प्राप्त हुई। सोने में सुहागा यह लोकोक्ति चरितार्थ हो गयी।

अध्यात्मविद्या एक अनुपम-आनंददायक रसायन है। अध्यात्म, आत्मसुधारस नामक अलौकिक अमृत है। इसके अवलम्बन से ही जीव स्वात्मानुभवरूप आनंदरस का पान करता है। यह आनंद निर्विकल्प, शब्दातीत और स्वानुभवगम्य है। चिरकाल से सुख के लिए उत्कण्ठित भव्य आत्मा अध्यात्म से ही सुखी होता है, यह

अभिप्राय अनेक ज्ञानी महामनीषियों का स्वानुभूत विषय है। जिज्ञासु पात्र जीवों को जीवन में इस विधी को साक्षात् अनुभव करके निर्णय करना चाहिए। यहाँ अन्धानुकरण और आज्ञा को स्थान नहीं है, परीक्षा और प्रत्यक्ष अनुभव की प्रधानता है। अध्यात्म में परावलम्बन को कोई स्थान नहीं है।

सामान्यतः आत्मा की तीन अवस्थाएं होती हैं– बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

बहिरात्मा अवस्था में जीव अपने निज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को अर्थात् ज्ञाननिधि-भगवान आत्मा को भूलकर अचेतन शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करता है। इस कारण चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करता हुआ अत्यंत असह्य और भयंकर दुःख का अनुभव करता है। दुःख सहा तो नहीं जाता, परवशता से भोगता है। करे भी क्या ? अपने अज्ञान से दुःख भोगना पड़ता है, अज्ञान छोड़े बिना दुःख से छुटकारा भी कैसे और क्यों हो ?

कभी कहता है रोगी शरीर से दुख है, कभी बोलता है प्रतिकूल वातावरण व पदार्थों से दुःख हो रहा है। कभी कदाचित् शास्त्र पढ़कर भी मानता रहता है- मुझे कर्म हैरान कर रहे हैं। दुःख के वास्तविक कारण का यथार्थ ज्ञान न होने से व्यर्थ प्रलाप करता रहता है। सुख के सच्चे उपाय को समझता नहीं, यह बहिरात्म अवस्था दुःख का मूल कारण है।

इस अज्ञान से मुक्त होकर जब जीव निज शुद्धात्मस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान ज्ञान करता है, तब अन्तरात्मा बनता है। शुद्धात्म-स्वरूप का अनुभव करता है। शुद्धात्मरसिक होने से मोक्षमार्गी होता

है। शरीर, धन-वैभवादि अचेतन वस्तु अथवा पुत्र, मित्रादि चेतन पदार्थों को सुख-दुःख का कारण न मानता हुआ सर्व पदार्थों का स्वतंत्र परिणमन रूप यथार्थ वस्तुस्वरूप का श्रद्धान ज्ञान ही सुख का कारण है ऐसा निर्णय पूर्वक मानता है। अर्थात् धार्मिक होता है, यह द्वितीय अवस्था अन्तरात्मा रूप है।

अन्तरात्मा आत्मलीनता द्वारा अपना पुरुषार्थ बढ़ाता रहता है। जीवन शुद्धात्मध्यानमय बनाता जाता है। पहले से ही परद्रव्य से श्रद्धा अपेक्षा से परावृत्त तो था ही, अब चारित्र की अपेक्षा से भी परद्रव्यों से सर्वथा परावृत्त होता हुआ आत्मरमणतारूप ध्यानाग्नि से कर्मकलंक को जलाकर अनंत चतुष्टयस्वरूप आत्मनिधि प्राप्त करके परमात्मा हो जाता है।

आचार्यदेव मुख्यतः शुद्धात्मानुभव रूप निर्मल जल प्रवाह में निमग्न रहते थे; तथापि जब आत्मध्यान से बाहर आते थे तब संसारी अज्ञानी जीवों की आत्मरसशून्य महापाप स्वरूप मिथ्यात्व परिणति को जानते थे। मिथ्यात्वपरिणतिरूप दुःख दावानल में दग्ध दुःखी जीवों को देखकर उनका चित्त क्षण भर के लिए करुणामय हो जाता था।

उन्हें दुःखी जीवों को सुख का सच्चा उपाय बताना ही चाहिए, ऐसी तीव्र दयार्द्र भावना उत्पन्न होती थी। इसलिए स्व-पर भेदविज्ञानजन्य आत्मानुभव के सामर्थ्य से आत्मतत्त्व का रहस्य धर्मलोभी-याचक जीवों को उपदेश के समय अपने अमृतमयी वचनों से समझाते थे। तथापि आचार्यदेव की करुणा विशेष होने से केवल शाब्दिक उपदेश करने से उन्हें संतोष नहीं था।

शुद्धात्मस्वरूप का यथार्थ बोध देने में समर्थ महान शास्त्र की रचना करने की तीव्र, हार्दिक और करुणामय अभिलाषा मन में पुनः पुनः उत्पन्न होती थी। अतः शुद्धोपयोग से जब शुभोपयोग में आते थे तब कुछ विचार गाथा बद्ध करने का भाव सहज ही आ जाता था। इस भाव का मूर्त रूप ही ग्रंथों की रचना के रूप में भव्य जीवों को उपलब्ध है। इस लोकोद्धारक कार्य के कारण ही नील पर्वत पर उनके निवास की काल मर्यादा स्वयमेव बढ़ने लगी। और वहाँ आसपास रहनेवाले धर्मपिपासु भव्य जीवों को यही हृदय से अपेक्षित भी था।

इस प्रकार पूर्व घाटी के पर्वत श्रेणियों में से एक पौन्नूर पर्वत पर ही अनेक दिवस ही नहीं अनेक महीने व्यतीत हुये। इस दीर्घ कालावधि में अनेक पाहुड़ ग्रन्थों की रचना हुई। अनेक मुनिसंघ और श्रावक-श्राविका समूह आचार्यों के परम पावन सानिध्य में आकर उनकी दर्शन विशुद्धि (निर्मल श्रद्धा) सम्यक् ज्ञान की प्रखरता और चारित्र की शुद्धि जानकर प्रभावित होते थे। उनका उपदेश सुनकर मंत्रमुग्ध से हो जाते थे और अपना जीवन पूर्णतः बदल गया; ऐसा अनुभव करते थे।

जैसे पारसमणि के स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है, वैसे ही कुछ पात्र जीव आचार्यदेव के पावन सानिध्य से संसार से विरक्त होकर वीतरागी संत हो जाते थे।

इस प्रकार विशाल नीलगिरि पर्वत के भिन्न-भिन्न श्रेणी पर्वतों पर अनेक चातुर्मास पूर्ण हुए। अनेकों राजाओं ने जैनधर्म धारण किया। सैकड़ों जैन मंदिर बन गये। जैनधर्म की अभूतपूर्व प्रभावना हुई।

सर्व समाज आचार्यदेव को सर्वज्ञ समान समझता था । आचार्य विषयक सबके मन में अत्यन्त आदर, प्रीति और भक्ति थी । जिस तरह तिल्ली में सर्वत्र तेल ही व्याप्त रहता है उसी तरह सबके मनोमंदिर में आचार्य श्री ही समा गये थे । सबके हृदय-सिंहासन पर एकमात्र आचार्यदेव ही विराजमान हो गये थे । अब श्रमण शिरोमणि का इस प्रान्त से विहार होगा, ऐसा अनुमान लगाकर आस पास का समाज अल्पकाल में ही आचार्य श्री के चरणों के सानिध्य में उपस्थित हुआ ।

उस दिन आकाश के मध्य भाग में स्थिर हुआ सूर्य, भ्रमण करते-करते मानो थक जाने के कारण अथवा अपने कर्तव्य के परिज्ञान होने के कारण अति मंद गति से अस्ताचल की ओर अपने चरण बढ़ाने लगा । आचार्य के पास खड़े होकर श्रमणसंघ उनके ध्यान टूटने के समय की प्रतीक्षा कर रहा था । श्रमण-संघ के पीछे श्रावक-श्राविकाओं का समूह भी दर्शन के लिए अति उत्कंठित होकर खड़ा था । अपार जनसमूह था लेकिन गंभीर शांति भी थी । कोई किसी के साथ न तो बात ही करते थे और न एक-दूसरे की ओर देखते ही थे । सब भक्तों की आँखों में एक आचार्यदेव ही समाये हुए थे । मानो आँखों को और किसी को देखना अभीष्ट नहीं था । रुचि ही नहीं थी /इच्छा भी नहीं थी, आवश्यकता भी नहीं थी । अल्पावधि में अनपेक्षित अपार जनसमूह को इकट्ठे हुए देखकर सभी को आश्चर्य हुआ ।

आचार्यदेव के विहार का अनुमान लगाकर सभी के मुख पर उद्वेग व निराशा की छाया फैल गई । किसी को किसी से कुछ

कहने का धैर्य ही नहीं था। बोलने की भावना कहाँ लुप्त हो गयी थी, कुछ पता ही नहीं चलता था। स्वेच्छाविहारी, स्वतंत्रवृत्तिवाले, दिगम्बर साधु को कोई क्या कह सकता है ? कदाचिद् कोई धैर्य से साधु से कुछ कहे तो उनके मन में किसी की बात सुनने योग्य राग ही नहीं रहता, तो वे सुने भी कैसे ?

धन्य ! धन्य ! मुनिदशा ! जो होता था वह हो रहा था। उसे मौन रीति से जान लेना ही गृहस्थों का कर्तव्य था। आचार्यश्री बाह्यतः जनसमूह के बीच में थे, तो भी वे अन्तर्मुहूर्त में अलौकिक आत्मानंद के लिए अन्तस्तल में जाते थे। फिर बाहर आना होता था। साधु महापुरुषों का जीवन स्वभावतः ऐसा ही होता है।

सूर्य अपने प्रखर किरणों कौ सौम्य करते हुए पश्चिम दिशा की ओर तीव्र गति से गमन कर रहा था। उस समय आत्मसमाधि से बाहर आकर आचार्य महाराज ने इकट्ठे हुए जनसमूह को देखा और वे खड़े हो गए। तत्काल ही जनसमूह ने आचार्यश्री का जय जयकार किया। वातावरण जयध्वनि से मुखरित हुआ। आचार्य श्री के चरण भी सूर्य का अनुसरण करते हुए पश्चिम दिशा की ओर बढ़े।

विहार प्रारंभ हुआ। आचार्यश्री का अनुसरण करता हुआ द्रमिल संघ भी पूर्व घाटी से पश्चिम घाटी की ओर आगे-आगे बढ़ा। दिगम्बर दीक्षा धारण किए हुए शिवस्कन्धवर्मा आदि मुनि भी छाया की तरह आचार्यश्री का अनुसरण कर रहे थे। श्रमण महासंघ तमिलनाड से तुलुनाड की तरफ विहार कर रहा था।

"अरे ! हमारे मलय देश से धर्म ही निकला जा रहा है। भाग्य भी हमें छोड़कर भाग रहा है। यदि हमारे देश में-जीवन में धर्म ही

नहीं रहेगा तो अन्य वस्तुओं को लेकर हमें क्या करना है ? इतने काल तक आचार्य देव के पवित्र सम्पर्क में रहकर हमने क्या साध्य किया ? क्या समझा ? कुछ भी नहीं ? इस प्रकार की आत्मवंचना से हानि किसकी होगी ? इससे दुःख भोगने का दुर्धर प्रसंग किसके ऊपर गुजरेगा ?" इसप्रकार अनेक प्रज्ञाचक्षु लोग गंभीरता से सोचते थे ।

संसार की असारता को जानकर कुछ आसन्न भव्य जीव छाया की तरह आचार्य के अनुगामी हो रहे थे । अपना मानव जीवन सार्थक बना रहे थे । कुछ लोग वापस घर आये । कुछ लोग निर्णय करने में असमर्थ होने के कारण मार्ग के मध्य में स्थित होकर विचार कर रहे थे । आगे जानेवाले का जीवन उज्जवल बन गया, वे आत्मोन्नति के पथ पर आगे बढ़ गए । वापस आनेवाले घर पहुँच गये । परन्तु अभी भी विचार करने वाले कुछ लोग मध्य में ही खड़े थे ।

आचार्यदेव का संघ ग्राम, नगर, मडम्ब, पत्तन, द्रोणामुख इत्यादि स्थानों में भव्य जीवों को सम्बोधित करता हुआ पर्वतप्रदेशों में तथा वन-जगंलों में ठहरता हुआ पूर्व से पश्चिम की ओर जा रहा था । जहाँ भी संघ जाता था वहाँ अपार जनसमूह एकत्रित होता जा रहा था । साधु-संतों के दुर्लभ दर्शन का संतोष उनके मन में समा ही नहीं पाता था । अतः वह भक्ति और श्रावकाचार के रूप में समाज में फैलता था । दर्शनार्थी साधु समागम से अपना जीवन धन्य हुआ —ऐसा अनुभव करते थे ।

आचार्यदेव का कहीं-कहीं महान उपकारी सारगर्भित मार्मिक उपदेश भी होता था । अनेक आसन्न भव्य जीव वास्तविक वस्तुस्वरूप

को जानकर वैराग्य परिणाम दृढ़ होने से संघ में समाविष्ट होते थे। जितनी मात्रा में श्रावकसमूह शिष्ट संस्कारित होता जा रहा था उतनी ही मात्रा में मुनिसंघ विशाल होता जा रहा था। इस तरह संघ स्वयमेव बढ़ रहा था। संघ बड़ा बनाने का विकल्प किसी को था ही नहीं, मात्र अपनी वीतरागता बढ़ाने का प्रयास अहो-रात्रि चलता था। पिडथ देश से विहार करते-करते उसी देश में एक चातुर्मास भी किया। इस तरह अनेक जगह वन-जंगलों में अनेक चातुर्मास करते करते अर्थात् सतत धर्मामृत की वर्षा करते-करते सात्विक-अलौकिक आनंद समाज को देते हुए संघ का कल्याणकारक विहार हो रहा था।

साधु-संघ ने पश्चिमी घाट के हिंसक पशुओं के वास स्थानभूत अनेक वन-प्रदेशों में निर्भयता से निवास करते हुए आगुम्बे घाट के मार्ग से अत्युन्नत पर्वत पर आरोहण किया। वहाँ एक दिन संघ ने विश्राम किया। वहाँ से घाट उतर कर "तीर्थहल्ली" नामक गांव में आहार के लिए संघ आया। आहार के पश्चात तत्काल ही मुनिसंघ वन-जंगल की ओर चला गया।

दूसरे दिन गुड्डेकेरी के पास वाले रास्ते से संघ आगे जाने के लिए सोच ही रहा था, कि इतने में आचार्यदेव पर्वत-श्रेणी के किसी आन्तरिक आकर्षण से प्रभावित होकर अनेक छोटे-बड़े पत्थर और कंकड़ों से सहित तथा काँटों से व्याप्त मार्ग से चलने लगे। पर्वत समान चट्टानों और गहरे-भयानक गर्तों की चिन्ता न करते हुए आगे बढ़ रहे थे। इस निविड़, भीषण वन में पैदल रास्ता भी कहाँ से होता ? वहाँ से कौन गुजरता होगा कि जिसके चलने से वहाँ पैदल रास्ता बनता ?

वहाँ पैदल रास्ता निर्माण करने की लोक कल्याणकारी भावना भी नहीं थी। लौकिकरूप से सुखदायक कुछ कार्य करने की भावना-अभिलाषा अलौकिक महापुरुषों को होता ही नहीं। वास्तविक तथा शाश्वत सुख के अविनाशी उपाय का जनसामान्य को ज्ञान कराने का अंतरंग अभिप्राय उनके विशाल करुणामय मनो-मंदिर में हमेशा बना रहता है। अविनाशी आत्मकल्याण के सामने यह अलौकिक करुणामय विचार भी गौण हो जाता है। इसलिए पीछे मुड़े बिना और उस कुंदाद्रि की ऊँचाई की गिनती न करते हुए पर्वत पर गये।

अहो! आश्चर्यकारक दृश्य! वह पर्वत इन महामुनीश्वरों के पाद स्पर्श से मानो "कुन्दन" पर्वत हो गया। पर्वत पर सुवर्ण वेष्ठित माणिक्य रत्न की तरह जिनालय में शोभायमान भगवान पार्श्वनाथ की वीतरागी मनोहर मूर्ति को देखा। आचार्यश्री ने भक्तिभाव से भगवान के चरणों की वन्दना की। वहीं तपस्या के लिए खड़े हो गए साधना /सिद्धि में मग्न हो गए।

आचार्यदेव के पीछे-पीछे ही साधु समूह और अपरिमित श्रावकसमुदाय पर्वत पर चढ़कर उस दिव्य मनोहर दृश्य को देखकर आश्चर्यचकित हुआ। उस पर्वत-शिखर पर सदा जलपूरति, धर्मतीर्थ सदृश धवल वर्ण से शोभायमान, विशाल सरोवर को देखा। यह सरोवर आज पापविच्छेदक सरोवर नाम से प्रसिद्ध है। इस गिरि शिखर के ऊपर से सूर्योदय और सूर्यास्त को और संहय् पर्वत की विपुल श्रेणियों की सुन्दरता को अपने जीवन में एक बार अवश्य देखना ही चाहिए ऐसा यह मनोहारी दृश्य है।

उसी प्रकार श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर की मनोज्ञता, श्रेष्ठ वास्तुकला से अलंकृत मानस्तम्भ और मानवलोक को भुलाकर आत्मस्वरूप की निराकारता को बतानेवाला नीलाकाश भी बहुत ही मनोहर है। इस प्रकार निसर्ग सौन्दर्य की गोद में नैसर्गिक, निर्मल, निज आत्मा का बोध करना सुलभ है।

विश्व के सभी मत प्रवर्तक सत्य की खोज के लिए निसर्ग पर अवलम्बित हैं, निसर्ग की शरण में ही गये हैं। नैसर्गिक /प्राकृतिक/ अकृत्रिम स्थान को ही आत्मसिद्धि के लिए उत्तम माना गया है। कृत्रिम नागरिकता में रहकर आजतक किसी ने भी सर्वोत्तम आत्मसिद्धि प्राप्त नहीं की, आज भी प्राप्त करता हुआ कोई देखने में नहीं आता। नगरों में नाटकीय नागरिकता रहती है, जब कि वन में सत्य-स्वाभाविकता। अतः आत्महितैषी महापुरुष नगर छोड़कर वन का आश्रय लेते हैं।

जैनधर्म तो वस्तुधर्म है। वस्तुधर्म तो परम स्वतंत्र, सुखदायक और स्वाभाविक होता है। इसीलिए जैनधर्मावलम्बी सभी साधु-संत कृत्रिम नागरिकता का स्वरूप जानकर उसका त्याग करते हैं। वनवासी, स्वाभाविक, स्वेच्छा विहारी हाथी की तरह वन-जंगलों में विहार करते हैं /निवास करते हैं। आत्मकल्याण की सर्वोत्कृष्ट साधना का यही एकमात्र उपाय भी है, और साधना में पूर्ण सफलता पाने के लिए आवश्यक भी है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी किसी नगर के समीप वास नहीं करते थे। किसी दुर्गम, निर्जन और नगर से सुदूर स्थान में निवास करते

थे। दो हजार वर्ष के बाद आज भी जहाँ जाना कठिन है ऐसे स्थानों में रहते थे।

आचार्यदेव अब अस्सी वर्ष के हो गये थे। जैसे-जैसे वर्ष बीत रहे थे, वैसे-वैसे तपानुष्ठान के फलस्वरूप में स्थिरता और प्रज्ञा में प्रखरता बढ़ती जा रही थी। अब साधना की सिद्धि अन्तिम अवस्था पर पहुँच गई थी। वे सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि के रहस्य को अपने अनुभव प्रत्यक्ष से साक्षात् करते हुए आनंदमय जीवन के साथ काल यापन करते थे।

स्वात्मानुभव के रसास्वादन के अलौकिक आनन्द और उसकी अद्भुत महिमा शिष्य समुदाय को प्रेरणा हेतु बताते थे। ऐसे अपूर्व विषय को सुनकर मुनिगण गुरुवर से ऐसे अलब्धपूर्व विषय को गाथा-निबद्ध करने का अनुरोध करते थे। लोकोद्धार का करुणाभाव बलवान होने पर आचार्य गाथा भी लिख देते थे। इसप्रकार स्वाभाविक रीति से एक ऐतिहासिक महत्वपूर्ण और आध्यात्मिक ग्रन्थ रचना का कार्य चल रहा था। यदा-कदा दर्शनार्थ आनेवाला श्रावक समूह उन्हें लेखन-सामग्री जुटा जाया करता था। आस-पास विहार करने वाला मुनिसंघ भी एक अथवा दो माह में एकबार आचार्य महाराज के दर्शन का लाभ पाकर लौट जाया करता था।

कालचक्र दिवसों से मास, मासों से वर्ष का निर्माण करता हुआ अपने कर्तव्य का निर्वाह अखण्ड रूप से कर रहा था। इसी कालावधि में आचार्यदेव द्वारा निर्मित २७५ गाथाओं का एक ग्रन्थ पूर्ण हुआ जिसका नाम प्रवचनसार ग्रंथाधिराज है। इस ग्रंथ में सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि का सार भरा है। (प्रवचन = दिव्यध्वनि, सार अर्थात्

संक्षेप= दिव्यध्वनि का संक्षेप अर्थात् प्रवचनसार) जिस दिन इस महान शास्त्र की रचना पूर्ण हुई उसीदिन से मुनिसंघ में प्रवचनसार ग्रंथ का स्वाध्याय प्रारंभ हुआ।

जैसे-जैसे दिन बीतते जा रहे थे वैसे-वैसे आचार्य पुंगव गंभीर, गंभीरतर और गंभीरतम होते जा रहे थे। जनसम्पर्क से अति अलिप्त होकर अंतरंग की गहराई में ही प्रवेश कर रहे थे। जब वे अतीन्द्रिय आनंद सरोवर में डूब जाते थे उस समय शिष्यवर्ग लेखनसामग्री और ताड़पत्र प्रतिदिन रख जाते थे। एक-दो प्रहर के बाद आकर देखने पर आचार्यदेव आत्मध्यान में लीन दिखते थे तब उन लिखित ताड़पत्रों को वहाँ से उठाकर नये ताड़पत्र वहाँ रख जाते थे। सायंकाल आकर देखने पर आचार्यदेव वहाँ मिलते। मात्र ताड़पत्र जैसे रखे थे उसी रूप में कोरे के कोरे ही मिलते थे।

दूसरे दिन शिष्यों ने आचार्यश्री को ढूँढते-ढूँढते जाकर देखा तो आचार्यश्री एक निर्झरणी के पास वृक्ष के नीचे बैठकर ग्रंथरचना कर रहे थे। उनके सामने शिष्यों ने फिर लेखन सामग्री व ताड़पत्रों का समूह रख दिया। जब आचार्य शुभोपयोग में आते तब नैसर्गिक रीति से उत्पन्न आत्मा के अतीन्द्रिय आनंदामृत को अपने अनुभव प्रत्यक्ष से अक्षर मालिका में गाथाओं के रूप में गूंथते थे। भावसमाधि से क्षण-क्षण में उद्भूत आत्मानंद रूपी तरंगों पर मानो तैरती हुई आनेवाली गाथाओं को लिखने के लिए शारीरिक शक्ति अपर्याप्त होने से हाथ का कंट (ताड़पत्र पर लिखने की लेखनी) काँपता था। तथापि अन्तरंग में से उदित गाथाएँ व्यर्थ न जावें इसलिए हाथ का कंट अधिक वेग से काम करने में जुट जाता था। उस समय अंतरंग

की आत्मानुभूति से आचार्य की मुख-मुद्रा चमकती थी और कंट पर हाथ का भार पुनः-पुनः डालने से हाथ थक-सा जाता था; फिर भी लेखन जारी रहता था।

लिखे हुए ताड़पत्रों को रखकर दूसरे ताड़पत्र को उठाने के लिए हाथ बढ़ाया तो वहाँ ताड़पत्र थे ही कहाँ ? सभी ताड़पत्र समाप्त हो गए थे। समाधि भंग होने से आचार्य ने पश्चिम दिशा की ओर दृष्टिपात किया तो दिनकर विश्रांति के लिए पश्चिम दिशा की ओर जाने की तैयारी में था। अतः आचार्य उठकर अपनी गुफा की ओर चले गये।

आचार्यदेव कभी पूर्वरचित गाथाओं के भाव का चिन्तन करते तो कभी लिखी जानेवाली गाथाओं का चिन्तन करते। संपूर्ण ग्रंथ की पूरी रूपरेखा उनके सामने लिखी हुई-सी थी। ग्रंथ पूर्ण किए बिना अंतरंग में तृप्ति नहीं हो रही थी। विचित्र सृष्टि ! विचित्र ऋषिदृष्टि !

देखो परिणामों की विचित्रता ! किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु के संबंध में अनुरक्त न होनेवाले अर्थात् सबसे सर्वथा विरक्त रहनेवाले आचार्यश्री की मनःप्रवृत्ति में इतना और ऐसा अपूर्व परिवर्तन कैसे हुआ? ध्यान और विचारों के तरंगों पर मानों तैरते-तैरते ही रात्रि समाप्त हो गयी। सूर्योदय होते ही पुनः उन्होंने गाथा लिपिबद्ध करने का कार्य प्रारंभ किया। शिष्यों को परम आश्चर्य हुआ। सदा सर्वत्र सहज निर्लिप्त रहनेवाले गुरुदेव को ग्रंथरचना में सदैव अनुरक्त देखकर आश्चर्य न हो तो और क्या होगा ?

इस अपूर्व और अलौकिक ग्रंथ की रचना पूर्ण होने से अब आचार्यश्री का जीवन पूर्ववत् सामान्य बन गया। इस ग्रन्थ की समाप्ति के पहले वे क्या करते थे, कहाँ रहते थे —इन सब बातों की उन्हें परवाह नहीं थी। आत्मलीनता से बाहर आने पर केवल ग्रंथ रचना के कार्य में ही सतत संलग्न रहते थे।

ग्रंथ रचने का निर्णय किया था इसलिए यह कार्य हुआ ऐसा नहीं है, आचार्यदेव के आत्मा की अद्भुत अपार अचिंत्य शक्ति से अर्थात् उनके पुण्य और वीतरागमय पवित्रता से यह कार्य हुआ है, अन्यथा यह असम्भव थां। यह ग्रन्थ रचने का कार्य होनेवाला था इसलिए सब संयोग-निमित्त जुट गये। वास्तविक देखा जाय तो प्रत्येक कार्य और बाह्य संयोग का ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध रहता है। अन्यथा ये भावलिंगी मुनिराज ग्रंथ रचना में इतने व्यस्त कैसे रहते?

यह ग्रंथकृति अर्थात् विश्व का एकमेव अद्वितीय चक्षु, संसारी जीवों को सिद्ध बनानेवाला भरतक्षेत्र का शब्दब्रह्म, सर्वजनकल्याणकारक "समयसार" है।

जीव मात्र का वास्तविक हितकारक और भवतारक इस कृतिरत्न की रचना केवल दो सप्ताह में अर्थात् **चैत्रशुदी** प्रतिपदा से प्रारंभ होकर **चैत्रशुदी** पौर्णिमा पर्यन्त के कालावधि में पूर्ण हुई। अपनी दीर्घायु में ऐसे अनुपम ग्रंथरत्न विश्व को भेंटस्वरूप देने के कारण आचार्य कुन्दकुन्द-देव जगज्जीवों के मनोमंदिर में 'यावत् चंद्र-दिवाकरौ' ससन्मान विराजमान रहेंगे।

ग्रंथ के आखिर में साक्षात् अनुभव द्वारा स्वयं गाथा में लिखा है–"जो आत्मा (भव्य जीव) इस समयप्राभृत को पढ़कर, अर्थ और तत्व से जानकर, उसके अर्थ में स्थित होगा, वह उत्तम सौख्यस्वरूप होगा।[१]

समयसार सदृश लोकोत्तर महिमायुक्त, महान, श्रेष्ठ अर्थात् लोकोत्तम कृति निर्माण करने पर भी आचार्य का हाथ श्रांन्त नहीं हुआ। तत्काल ही निश्चय चारित्र की प्रधानता से मोक्षमार्ग का स्पष्ट और सत्यार्थ निरूपक नियमसार की रचना में लग गये।

प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्थास्वरूप झूले में निरन्तर झूलनेवाले आचार्यदेव ने त्रिकाली ध्रुव द्रव्य से पर्याय की एकता की साधना करते हुए परमपारिणामिक भाव के यथार्थ आश्रय से समुत्पन्न स्वसंवेदन सुख को संक्षेप में इस ग्रंथ में लिपिबद्ध किया है। कारणशुद्ध पर्याय, कारण समयसार, कार्य समयसार, सहजदर्शन, सहज ज्ञान आदि सूक्ष्म और अनुभवगम्य विषयों का खुलासा किया है।

अपनी आत्मसन्मुख वृत्ति को भी अत्यन्त मार्मिक शब्दों में स्पष्ट करते हुए अंतिम मंगल किया है :–

पूर्वापर दोष रहित जिनोपदेश को जानकर मैंने निजभावना निमित्त से नियमसार नाम का शास्त्र किया है।[२]

---

१. जो समयपाहुडमिणं पढ़िदूण अत्थदच्चदो णादु।
अत्थे ठाही चेदा, सो होही उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥

२. णियमावणानिमित्तं मए कदं नियमसारणाम सुदं।
णच्चा जिणोवददेसं, पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥१८७॥

इस प्रकार आत्मकल्याण के साथ-साथ परकल्याण की स्वाभाविक भावना से आचार्य परमेष्ठी ने सभी तीर्थंकर परमदेवों की दिव्यध्वनि के सार को और स्वानुभूत सत्य को लोकमंगलकर ग्रन्थरत्नों में निबद्ध करके जगत के भव्य जीवों पर महान उपकार किया। इस महामानव ने ६५ वर्ष, १० मास, १५ दिवस पर्यन्त दीर्घ मनुष्य-जीवन सफल रीति से व्यतीत कर ई. सं. पूर्व १२ में समाधि मरण पूर्वक स्वर्गारोहण किया।[१]

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्यदेव ने इस संध्याचल की पर्वत श्रृंखलाओं के उत्तुंग शिखर पर आकर दीर्घकाल तक तपस्या की थी, अतः उनकी महिमा से ही अर्थात् आचार्यदेव के नाम के कारण ही इस उत्तुंग शिखर को "कुन्द्राद्रि" नाम से लोग भक्ति और आनंदपूर्वक पुकारने लगे। यह स्थान आचार्य की तपोभूमि बन जाने से लोग इस स्थान को पवित्र मानने लगे। स्वाभाविक ही यह पर्वत तीर्थक्षेत्र हो गया।

इस पर्वत पर बारहवीं शताब्दी में तैलप राजा ने पार्श्व-जिनालय का निर्माण कराया था। राजवैभव के साथ जिनबिम्ब का भक्ति और उत्साह से पंचकल्याणक प्रतिष्ठा भी कराई थी। इस महोत्सव के कारण ही तैलप राजा कर्नाटक का सार्वभौम तैलप राजा नाम से प्रख्यात हुआ।

इस दुर्गम पर्वत पर दर्शन के लिए सुगमता से जाना संभव हो इस पुण्यमय हेतु से गुड्डेकेरि नामक ग्राम के निवासी श्रीमती

१. डॉ. राजमल्लजी पांडे लिखित "विक्रमादित्य" पृष्ठ-१६१

काडम्मा और श्री नागप्पा हेगड़े ने सुगम रास्ता बनवा दिया; जिससे अन्य भक्तों के लिए भी भक्ति के माध्यम का सुअवसर प्राप्त हो गया। सभी लोग इस कुन्दाद्रि की पवित्र भूमि के दर्शन से उस श्रमण शिरोमणि के दिव्य जीवन की स्मृति से पुनीत होकर अपने जन्म को सार्थक करें –यही श्रेयस्कर है।

आचार्य कुन्दकुन्द अत्यन्त प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य आचार्य थे। इस संबंध में अनेक उल्लेख शिलालेखों में तथा उत्तरकालवर्ती ग्रंथों में देखने को मिलते हैं। उनमें से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :–

श्रीमतो वर्धमानस्य वर्धमानस्य शासने।
श्रीकोण्डकुन्दनामाभून्मूलसंघाग्रणीर्गणी ॥

–श्रवणबेलगोल शिलालेख-५५/६६/४६२

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्य कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्ड ॥

–श्रवणबेलगोल शिलालेख -१०८

कवित्वनलिनीग्रामनिबोधन सुधाघृणिम्।
वन्द्यैर्वन्द्यमहं वन्दे कुन्दकुन्दामिदं मुनिम् ॥

–विद्यानन्दकृत सुदर्शन चरित्र

असाध्यद्युसदां सहायमसमं गत्वा विदेहं जवा
दद्राक्षीत् किल केवलेक्षणमिनं द्योतक्षमध्यक्षतः।

स्वामी साम्यपराधिरूढ़ धिषणः श्रीनंदिसंघाश्रियो
मान्यः सोऽस्तु शिवाय शान्तमनसा श्रीकुन्दकुन्दाभिघः ॥

—अमरकीर्ति सहस्रनाम टीका

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसघास्तस्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्ये
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्री माघनन्दी नरदेववन्द्यः ।

पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तो जिनादि चन्द्रः समभूदतन्द्रः ।
ततो भवत् पंच सुनाम धामा श्रीपद्मनन्दी मुनि चक्रवर्तिः ॥

—नन्दिसंघ पट्टावली

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव को मूलसंघ का आदि प्रवर्तक माना जाता है। कोण्डकुन्दपुर से उत्पन्न मुनि परंपरा को कुन्दकुन्दान्वय कहा जाता है। इस कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख शक संवत् ३८८ के मर्करा के ताम्रपत्र शिलालेख नं. ६४ के साथ सम्बंधित प्रतीत होता है। ६४वें शिलालेख में कोंगणिवर्म ने मूलसंघ के प्रमुख आचार्य चन्द्रनन्दि को भूदान दिया था-ऐसा उल्लेख मिलता है। और यह उल्लेख मर्करा के दानपत्र में भी मिलता है। विशेष बात यह है कि इसमें चन्द्रनन्दि की गुरु परम्परा भी दी गई है और उन्हें देशीगण के कुन्दकुन्दान्वय का बताया गया है।

६४वें शिलालेख का समय लगभग ५वीं शताब्दि का प्रथम चरण है और मर्करा के ताम्रपत्र में संकलित समय के अनुसार वह समय ई. सं. ४६६ होता है। कोंगणिवर्म का पुत्र दुर्विनीत का काल ई. सं. ४८० से ५२० का मध्य है। अतः ताम्रपत्र में उल्लिखित समय में कोंगणिवर्म जीवित था, जिसने चन्द्रनन्दि को दान दिया था।

चन्द्रनन्दि की गुरु-परम्परा में गुणचन्द्र, अभयनन्दि, शीलभद्र, जयनन्दि, गुणनन्दि, चन्द्रनन्दि आदि महामुनियों के नामों का उल्लेख है। इससे मूलसंघ की परम्परा की बहु प्राचीनता सिद्ध होती है और आचार्य कुन्दकुन्ददेव ई. सं. पूर्व ही हुए थे; इसकी पुष्टि होती है।

उसी प्रकार अभिधान राजेन्द्रकोश में आचार्य कुन्दकुन्द का परिचय देते हुए लिखा है:-

कुन्दकुन्द पु. स्वनामख्यातो दिगम्बराचार्य भद्रबाहुर्गुप्तिगुप्तो माघनन्दिर्जिनचन्द्रः कुन्दकुन्दाचार्य इति तत्पट्टावल्यां शिष्यपरम्परा अयमाचार्यो-विक्रम सं. ४६ वर्षे वर्तमान आसीत्। अस्यैव वक्रग्रीवः एलाचार्यः गृद्धपिच्छः मदननन्दि दिव्यपराणि नामानि।

—अभिधान राजेन्द्रकोश ३-५५७

विक्रम संवत् ४६ में आचार्य कुन्दकुन्द की विद्यमानता को स्वीकारा है और उनके पाँचों नामों का उल्लेख भी किया गया है। मात्र पद्मनन्दि के स्थान पर मदननन्दि कहा गया है। अतः निर्विवाद-रूप से ज्ञात होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ई. सं. पूर्व ही हुए थे।

विकारविजयी, युगपुरुष आचार्य कुन्दकुन्द केवली सदृश कर्तव्य निभाकर प्रसिद्ध मंगलाचरण श्लोक में तृतीय स्थान पर विराजमान हो गये। ८५ वर्ष उनके सुदीर्घ साधु जीवन का आचार्य परम्परा में एकमेवाद्वितीय और अत्यन्त गौरवास्पद स्थान है। इस कालावधि में आचार्यश्री ने दक्षिण और उत्तर भारत में अनेक बार विहार करके

जन-जागृति और धर्म-जागृति को सर्वोच्च कोटि पर पहुँचा कर सत्य सनातन दिगम्बर जैन परम्परा के लिए एक दृढ़ और भद्र नींव डाली।

आचार्य देव ने वस्तुतत्त्व का यथार्थ निरूपण तो किया ही, लेकिन इतने मात्र से काम समाप्त नहीं हुआ-उन्हें संतोष भी नहीं हुआ। शुद्धात्मतत्त्व, पर द्रव्य, पर-गुण और पर-पर्याय से भिन्न और स्वगुणों से अभिन्न तथा अपनी शुद्धाशुद्ध पर्यायों से भी भिन्न है यह विषय भी अत्यन्त सुलभ रीति से उन्होंने स्पष्टतया समझाया। यह जिनागम का विषय समयसारादि अध्यात्म ग्रंथों के अलावा अन्यत्र दुर्लभ है। सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए निज शुद्धात्मतत्त्व ज्ञायकभाव के ज्ञान-श्रद्धान की सर्वप्रथम आवश्यकता है। साथ ही साथ जीवन में वीतराग चारित्र भी प्रस्फुटित हो ऐसा प्रयास करना चाहिए। आपके ग्रन्थों में प्रतिपादित परम पवित्र अध्यात्म गंगा में अवगाहन करनेवाला भव्य जीव नियमपूर्वक भवभ्रमण से मुक्त होकर शाश्वत सुख को सदा के लिए प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं। कारण कि इन ग्रंथो में भव और भव के भाव के अभावस्वरूपी स्वभाव का विवेचन किया गया है।

आचार्यदेव ने अपने जीवन काल में ८४ पाहुड ग्रन्थों की रचना की थी ऐसा ज्ञात होता है; लेकिन अब केवल बारह पाहुड़ ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं, शेष पाहुड़ ग्रन्थ पृथ्वी के कठोर गर्भ में लुप्त हो गये हैं। अथवा किसी ग्रन्थ भण्डार में ताड़पत्र पर लिखे हुए उद्घाटन हेतु भवितव्य की राह देखते होंगे। बारह अणुवेक्खा, भक्तिसंग्रह, भी आचार्यकृत ही रचनाएँ हैं, जिनका रसास्वादन रसिक समाज कर रहा है।

आचार्यदेव के प्रायः सभी ग्रन्थ पाहुड नामान्त हैं। जैसे-समयपाहुड़, सूत्रपाहुड़, मोक्ख-पाहुड़, भावपाहुड़ आदि। "पाहुड़" का संस्कृत रूप प्राभृत होता है। प्राभृत का अर्थ है भेंट। इसी अर्थ को लक्ष्य में रखकर आचार्य जयसेन ने समयसार की अपनी टीका में समयप्राभृत का अर्थ अग्रांकित प्रकार किया है।

यथा कोऽपि देवदत्तः राजदर्शनार्थं किंचित् सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत् प्राभृतं भण्यते। तथा परमात्माराधक पुरुषस्य निर्दोषपरमात्म-राजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतम्।

अर्थात् जैसे देवदत्त नामक कोई व्यक्ति राजा को दर्शन करने के लिए /राजा से मिलने के लिए सारभूत वस्तु राजा को भेंट देता है, उसे प्राभृत-भेंट कहते हैं। उसी प्रकार परमात्मा के आराधक पुरुष के लिए **निर्दोष परमात्मा रूपी राजा का दर्शन करने के लिए यह शास्त्र भी प्राभृत है।** "मानो ये ग्रन्थाधिराज भव्य जीवों के लिए आचार्य कुन्दकुन्द की भेंट हैं।"

प्राभृत का आगमिक अर्थ यतिवृषभ ने अपने चूर्णि सूत्रों में इसप्रकार किया है:-

जह्मा पदेहिं पुदं (फुडं) तह्मा पाहुडं [1]

जो पदों से स्फुट अर्थात् व्यक्त है इसलिए वह पाहुड़ कहलाता है।

"जयधवला" नामक अपनी टीका में आचार्य वीरसेन ने प्राभृत का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है:-

---

१. कषायपाहुड़ भाग-१, पृष्ठ ३२६
२. कषायपाहुड़ भाग-१, पृष्ठ ३२५

... पुस्तकालय
सेठ ..., जयपुर

प्रकृष्टेन तीर्थंकरेन आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतं। प्रकृष्टैराचार्यै विद्यावित्तवद्भिराभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्।[2]

अर्थात् प्र + आभृत = जो प्रकृष्ट रूप से तीर्थंकर के द्वारा प्रस्थापित किया है वह प्राभृत है। अथवा विद्या ही जिनका धन है – ऐसे प्रकृष्ट आचार्यों के द्वारा-जो धारण किया गया है अथवा व्याख्यान किया गया है अथवा परम्परा रूप से लाया गया है, वह प्राभृत है।

अतः प्राभृत शब्द इस बात का सूचक है कि जिस ग्रंथ के साथ यह प्राभृत शब्द संयुक्त है वह ग्रन्थ द्वादशांग वाणी से सम्बद्ध है; क्योंकि गणधर द्वारा रचित अंगों और पूर्वों में से १४ पूर्वों में प्राभृत नामक अवान्तर अधिकार है। कसायपाहुड़ और षटखण्डागम दोनों क्रम से पांचवें और दूसरे पूर्व से सम्बंधित हैं। पहला भाग युक्ति और आगम कुशलता की छाप से अंकित है और दूसरा भाग प्रतिपादन शैली से, किन्तु समयसार में तो दोनों की विशेषताएँ पद-पद पर दिखाई देती हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के दोनों गुणों का निखार समयप्राभृत में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। निश्चय-व्यवहार का सामंजस्य उनकी युक्ति और आगम की कुशलता का अपूर्व उदाहरण है। तथा उसके द्वारा की गई परमार्थ की सिद्धि उनके प्रतिपादन का चमत्कार है।

इसतरह वास्तविक रूप से देखा जावे तो तीर्थंकर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि द्वारा उद्घोषित और परमपूज्य गौतमादि गणधरों से रचित वाणी जितनी महान और सर्वथा विश्वसनीय है उतनी ही महान् और सर्वथा विश्वसनीय आचार्य कुन्दकुन्द देव के ग्रन्थ हैं।

सही देखा जाय तो आचार्य देव द्वारा रचित सर्व ही शास्त्र परमोपकारी हैं। उनके ८४ पाहुड ग्रन्थ ८४ लाख योनि से मुक्त होकर शाश्वत और सुखमय सिद्धालय में अनंत काल पर्यंत विराजमान होने के लिए प्रत्येक जीव को भेंटस्वरूप हैं, ऐसा अभिप्राय किसी को भी अतिशयोक्ति या असत्य नहीं लगना चाहिए। इस तरह निर्णय करके सच्चे सुख की इच्छा रखनेवालों को आचार्य रचित वर्तमान में उपलब्ध बारह पाहुडादि ग्रन्थों का आत्मसन्मुख होकर अध्ययन करना परमावश्यक है। मानवजीवन का आद्य एवं अनिवार्य कर्तव्य भी यही है।

पंचास्तिकाय:

इस ग्रन्थ का मूल प्राकृत नाम पंचत्थिकाय संगह पाहुड है। पाहुड अर्थात प्राभृत शब्द को गौण करते हुए पंचास्तिकाय नाम ही विशेष प्रसिद्ध है। इस शास्त्र में मुख्य रीति से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकाय द्रव्यों का वर्णन है; क्योंकि वे द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। ये सभी द्रव्य लोकाकाश में स्थित हैं फिर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। ऐसे सत्ता के स्वरूप को समझाकर जो विभिन्न पर्यायों को प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहा गया है। पांच द्रव्यों का और द्रव्य तथा गुणों के आपस में परस्पर सम्बन्ध का वर्णन करते हुए सप्तभंगों का निरूपण भी किया है।

असत् का उत्पाद (जन्म) नहीं होता और सत् का विनाश, इस सनातन सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए सत् स्वरूप पदार्थ का विनाश नहीं होता है और असत् वस्तु का उत्पाद भी नहीं होता, यह

बताया है। पर्याय उत्पन्न-ध्वंसी है। पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य है और वही पदार्थ पर्यायदृष्टि से अनित्य है। इस प्रकार जीवादि छहों द्रव्यों के सामान्य स्वरूप का विशद निरूपण किया गया है। जो जीव इस पंचास्तिकाय संग्रह को समझकर राग-द्वेष को छोड़ देता है, वह दुःख से मुक्त हो जाता है, इस निरूपणपूर्वक प्रथम स्कन्ध को पूर्ण किया है।

द्वितीय स्कन्ध में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्पष्ट स्वरूप बताया है। आगे जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन नवतत्त्वों का वर्णन करके निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का विवरण करते हुए दोनों में सामंजस्य स्थापित किया है। अरहंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन और ज्ञान के प्रति भक्तिसम्पन्न पुरुष अत्यधिक पुण्य बांधता है, परन्तु कर्मक्षय नहीं करता है, यह भी स्पष्ट किया गया है। कर्मक्षय के लिए प्रशस्त और अप्रशस्त राग आदि सभी भावों के अभाव को आवश्यक बताया है।

प्रवचनसार

इस ग्रंथ का मूल (प्राकृत भाषा की अपेक्षा) नाम पवयणसार है। आचार्यदेव की यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से आचार्यदेव की विद्वत्ता, तार्किकता और आचारनिष्ठा आदि अनेक अनुपम गुणों का यथार्थ बोध होता है। प्रवचनसार में वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अति स्पष्ट रीति से विवेचन किया है। ग्रन्थारम्भ में ही आचार्य श्री ने पूर्ण वीतरागी चारित्र के प्रति अपनी तीव्र आकांक्षा व्यक्त की है। वे अखण्ड रीति से आत्मस्वरूप में ही लीन होना चाहते हैं, परन्तु जिस समय प्रमत्तावस्था आती थी, उस समय इस प्रवचनसार

नामक वचन-मौक्तिक माला की रचना की है। इसमें सर्वत्र मुख्यता से शुद्धोपयोगरूप वीतराग चारित्र की महिमा गुंजायमान है।

इस परम पवित्र शास्त्र में तीन अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में ९२ गाथाओं के द्वारा ज्ञानतत्व की चर्चा, द्वितीय अधिकार में ज्ञेयतत्व की चर्चा १०८ गाथाओं द्वारा और तृतीय अधिकार में चारित्र का कथन ७५ गाथाओं के द्वारा किया गया है।

ज्ञानतत्व प्रज्ञापन (अधिकार):—इन्द्रियजन्य ज्ञान व सुख हेय है। अतिन्द्रिय ज्ञान और सुख उपादेय है। अनादिकाल से परोन्मुख वृत्तिवाले जीवों को "मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ और मेरा सुख मुझमें ही है" ऐसा श्रद्धान उदित नहीं हुआ है, अतः इनकी परोन्मुखवृत्ति चल रही है, ऐसा कहा है। इस अधिकार में ज्ञानानन्द स्वभाव का विस्तार से वर्णन करके केवल अर्थात् अनंत ज्ञान और अनंत सुख को प्राप्त करने की भावना को जगाया है। क्षायिक ज्ञान ही उपादेय है। क्षायोपशमिकज्ञान वाले (अल्पज्ञ अर्थात आप-हम) कर्मभार का वहन करते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान (केवल ज्ञान /पूर्ण ज्ञान) ही ऐकान्तिक सुखस्वरूप है। परोक्षज्ञान अत्यन्त आकुलतामय है। केवली भगवान का अतीन्द्रिय सुख वास्तविक सुख है, इन्द्रियजनित सुख तो दुःख रूप ही है। घातिकर्मों से रहित केवली भगवान के सुख का वर्णन सुनकर भी जो जीव उस सुख का श्रद्धान नहीं करते हैं, उन्हें अभव्य कहा है। अन्त में राग-द्वेष निर्मूल करने के यथार्थ उपाय को संक्षेप में बतलाया है।

ज्ञेयतत्व प्रज्ञापन (अधिकार):—अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीवों ने सब कुछ किया, किन्तु स्व-पर का

भेदविज्ञान ही नहीं किया अतः दुःखी है। बन्ध मार्ग और मोक्षमार्ग में जीव स्वयं ही कर्त्ता, कर्म, करण है और वही कर्म-फल को भोगता है। इस जीव का पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा यथार्थ श्रद्धान कभी इसे उदित नहीं हुआ अतः अनेक मिथ्याउपायों को करने पर भी यह जीव दुःखमुक्त नहीं हुआ है।

जगत् का प्रत्येक सत् अर्थात् द्रव्य, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है, गुणपर्याय सहित है; इसके अलावा उस द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं है। सत् कहो, द्रव्य कहो, उत्पाद-व्यय ध्रौव्य कहो या गुण-पर्यायों का पिण्ड कहो-सबका अर्थ एक ही है। त्रिकालज्ञ जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रत्यक्ष जाना-देखा हुआ वस्तुस्वरूप का यह मूल सिद्धान्त है। वीतराग-विज्ञान के इस मूलभूत सिद्धान्त को अति ही सुन्दर रीति से और वैज्ञानिक पद्धति से समझाया गया है। द्रव्य का सामान्य व द्रव्य का विशेष स्वरूप ५ इन्द्रिय, ३ बल, आदि १० प्राणों से जीव की भिन्नता, निश्चय बन्धस्वरूप, शुद्धात्मोपलब्धि का फल आदि विषयों का विशद विवेचन किया है। जिनशासन के मौलिक सिद्धान्त को अबाधित सिद्ध किया है।

यह अधिकार जिनशासन का कीर्तिस्तम्भ है। इस अधिकार की रचना करके आचार्य देव ने केवली भगवान के विरह को विस्मृत सा करा दिया है। वस्तुस्वरूप का कथन अद्भुत शैली से किया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकरण का सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिए। यह श्रुत रत्नाकर अनुपम है।

चरणानुयोग सूचिका चूलिका :—इस अधिकार में यह स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि मोहादिजन्य विकारों से रहित आत्मा की

वीतराग परिणति ही सच्चा चारित्र है। इस सच्चे चारित्र को ही धर्मरूप से स्वीकार किया गया है। चारित्र परिणत आत्मा शुद्धोपयोग से युक्त होने पर निर्वाण सुख को प्राप्त होता है। निर्वाण सुख अतीन्द्रिय है और वह कर्मक्षय से प्राप्त होता है। मुनिराज को अंतरंग शुद्धता-वीतरागता के अनुरूप शुभोपयोग होता है और उसके अनुसार बाह्य क्रियाओं का पालन सहज ही होता है। जिनोक्त दीक्षाविधि, अट्ठाईस मूलगुण, अंतरंग-बहिरंगच्छेद, युक्ताहारविहार, मुनियों का परस्पर व्यवहार आदि विषयों को समझाया है। आत्मद्रव्य को मुख्य रखकर इस प्रकार का चरणानुयोग का प्रतिपादन अन्य किसी शास्त्र में देखने को नहीं मिलता। इस प्रकार इस शास्त्र में जिनशासन के मूल सिद्धान्तों के बीज विद्यमान हैं। इसमें प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्याय की स्वतंत्रता की घोषणा अत्यंत जोरदार और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की है। दिव्यध्वनि से निकले हुए अनेक प्रयोजनभूत सिद्धान्तों का सर्वोत्तम वर्णन किया है।

समयसार :-

इस ग्रन्थ को समयपाहुड समयप्राभृत भी कहते हैं। इसमें कुल ४१५ गाथाएँ हैं। पूर्वरंग से प्रारंभ होकर जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष और सर्वविशुद्धज्ञान नामक जो अधिकार हैं।

पूर्वरंग - जो जीवादि ज्ञेयरूप पदार्थों को जानता है और परिणमता है उसे समय कहते हैं। समय के स्वसमय और परसमय ऐसे दो भेद किये हैं। जो जीव अपने दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप स्वभाव में स्थित है, वह स्वसमय है। और जो जीव कर्मजन्य अपनी अवस्थाओं को

अथवा द्रव्य की अवस्थाओं को अपनी मानता है, वह परसमय है। इस जगत् को अनादि से काम-भोग-बंध की कथा श्रुत है, परिचित और अनुभूत है। परन्तु एकत्वविभक्त ज्ञायक आत्मा की कथा इस जगत ने कभी सुनी नहीं, जानी नहीं और अनुभव में भी नहीं ली। अतः मैं इस ज्ञायक आत्मा की कथा को निज वैभव से कहूँगा ऐसी प्रतिज्ञा आचार्य देव ने की है। आत्मा अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है। ये दोनों अवस्थाएँ परद्रव्य के निमित्त से होती हैं। आत्मा स्वभाव से ज्ञायक अर्थात् ज्ञाता मात्र है। ज्ञायक में ज्ञेयकृत अशुद्धता भी नहीं है।

जीवाजीवाधिकार :- आत्मस्वभाव में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द नहीं हैं। आत्मा केवल चेतनस्वभावी है। कोई अज्ञानी राग-द्वेषादि परिणामों को, कोई कर्म-फल को, कोई शरीर को आत्मा मानते हैं, परन्तु इनमें से कोई भी जीव नहीं है। ये सभी पुद्गल द्रव्य की अवस्थाएँ हैं। जीवस्थान और गुणस्थान आदि व्यवहार से जीव कहे गये हैं, क्योंकि व्यवहार के बिना निश्चय का कथन शक्य नहीं है। इन सभी आगन्तुक भावों का परित्याग करके "मैं केवल उपयोग मात्र ज्ञानदर्शनी स्वरूप आत्मा हूँ" ऐसा निर्णय करना चाहिए।

कर्ता-कर्माधिकार :- इसमें कहा है कि जीव और अजीव दोनों स्वतंत्र हैं। तथापि जीव परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गलमय कार्माण वर्गणायें अपने आप कर्मरूप परिणमित होती हैं और पुद्गल कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव क्रोधादि विकाररूप परिणमित होता है। ऐसा होने पर भी जीव और अजीव (पुद्गलमय कर्म) दोनों पूर्ण स्वतंत्र हैं। जीव कर्म के किसी गुण का उत्पाद नहीं कर सकता

और कर्म भी जीव के किसी गुण का उत्पाद नहीं कर सकता। जीव और कर्म में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है। अतएव जीव अपने भावों का कर्ता है न कि कर्मों का। मात्र निर्मित्त-नैमित्तिक सम्बंध के कारण से जीव को कर्मों का और कर्म को जीव के भावों का कर्ता व्यवहार से कहा जाता है। निश्चय से जीव, पुद्गल कर्मों का कर्ता और भोक्ता कदापि नहीं है।

ग्रन्थाधिराज समयसार को छोड़कर अन्य जैन-जैनेतर किसी भी धर्म-शास्त्र में कर्ता-कर्म अधिकार के समान अलौकिक विषय नहीं है। अतः इस विषय का मर्म समझना हमारा कर्तव्य है।

पुण्यपापाधिकार :—जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है वैसे ही सोने की भी। इसीप्रकार पुण्य-पाप दोनों बन्ध ही करते हैं। अतः पाप के समान पुण्य भी हेय ही है। ये दोनों बन्धक, आकुलता उत्पादक और संसार के कारण होने से दोनों का त्याग करना श्रेयस्कर है।

आस्रवाधिकार :—जीव के मोह-राग द्वेषरूप भाव ही सचमुच आस्रव हैं। इन भावों का निमित्त पाकर कार्माण-वर्गणाओं का जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप संबंध होता है, जिसे द्रव्यास्रव कहते हैं। अज्ञानी के अज्ञानमय परिणाम होते हैं और ज्ञानी के ज्ञानमय। ज्ञानमय परिणामों से अज्ञानमय परिणाम अवरुद्ध होते हैं। अतः ज्ञानी जीवों को कर्मों का आस्रव नहीं होता।

संवराधिकार :—इसमें संवर तत्व का प्रतिपादन है। रागादि भावों का निरोध ही संवर है। आत्मा में आंशिक शुद्धि प्रगट होना ही संवर है। संवर का मूल कारण भेदविज्ञान है। आत्मा उपयोग

अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। क्रोधादि भाव जड़स्वरूप हैं। अतः उपयोग अर्थात् आत्मा में क्रोधादि भाव नहीं हैं। क्रोधादि भावों में तथा कर्म और नोकर्म में उपयोग नहीं है-इस भेद को जानना ही भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि और शुद्धात्मा की उपलब्धि से मिथ्यात्वादि अध्यवसानों का अभाव होता है। अध्यवसानों के निरोध से आस्रव का निरोध होता है। आस्रव निरोध से कर्मों का निरोध और कर्मों के निरोध से संसार का निरोध होता है।

निर्जराधिकार :– सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के माध्यम से चेतन-अचेतन द्रव्यों का जो उपभोग करता है, वह उपभोग निर्जरा का ही कारण है बंध का नहीं; क्योंकि सम्यग्दृष्टि को ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत और अपूर्व शक्ति प्राप्त हुई है। ज्ञानी कर्मोदयजन्य भोग भोगता है, परन्तु कर्मों से नहीं बंधता। अनुभव में आनेवाला जो यह राग परिणाम है वह तो कर्मोदय का फल है, वह मेरा निजभाव नहीं है मैं तो शुद्ध ज्ञायक हूँ।" ऐसा जाननेवाला ज्ञानी कर्मोदयजन्य परिणामों का त्याग करता है।

बन्धाधिकार :—आत्मा और पौद्गलिक कर्म दोनों स्वतंत्र हैं-एक चेतन और दूसरा अचेतन। तथापि अनादि से इन दोनों का सहज निमित्त-नैमितिक सम्बन्ध है। दोनों में परस्पर लोह तथा चुम्बक की तरह आकर्षित होने और आकर्षित करने की स्वाभाविक योग्यता है। अपनी-अपनी योग्यता से दोनों (जीव-पुद्गल) एक क्षेत्रावगाही हैं। अज्ञानी इन्द्रिय-विषयों में राग-द्वेष करता हुआ कर्मों से बंधता है और ज्ञानी ज्ञानरूप अपने आत्मस्वभाव में लीन होने से कर्मों से मुक्त होता रहता है।

मोक्षाधिकार :- जैसे कोई पुरुष "मैं बद्ध हूँ" इतने जानने मात्र से मुक्त नहीं होता; मुक्ति के लिए प्रयत्न करना अपेक्षित है। वैसे ही कर्म-बंध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से मुक्ति नहीं मिलती। किन्तु रागादि को छोड़कर शुद्ध रूप परिणत होने से मुक्ति मिलती है। आत्मा और कर्म के स्वभाव को जानकर आत्मा के स्वभाव को ग्रहण करना और कर्मों को छोड़ना यही मुक्त होने का यथार्थ उपाय है।

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विषय शुद्धात्मा है, वह शुद्धज्ञानस्वरूप है। यह शुद्धात्मा किसी का कारण नहीं है और किसी का कार्य भी नहीं है। इसके साथ परद्रव्य का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। आत्मा स्वभाव से सुखस्वरूप है और वह परद्रव्य का कर्ता और भोक्ता कदापि नहीं है। अज्ञानी अज्ञानवश अपने को परद्रव्य रूप कर्म का कर्ता-भोक्ता मानता है और दुःखी होता है।

नियमसार :-

इसमें १८७ गाथायें हैं। इस ग्रंथ पर मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारीदेव ने तात्पर्यवृत्ति नामक टीका लिखी है। यह ग्रन्थ बारह अधिकारों में विभक्त है- जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहारचारित्र, परमार्थ प्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, परमालोचना, शुद्धि निश्चय प्रायश्चित्त, परम समाधि, परमभक्ति, निश्चय परमावश्यक तथा शुद्धोपयोग। मोक्षमार्ग का निरूपण करनेवाला सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। नियमसार शब्द का अर्थ है शुद्ध रत्नत्रय।

इस परमागम के प्रत्येक पृष्ठ पर आचार्य भगवान ने स्वयं अनुभूत अलौकिक, अनुपम तत्व को बताया है। शुद्ध-निश्चय रत्नत्रय की

प्राप्ति निज परमात्मतत्व के आश्रय से होती है। सम्यग्दर्शन (मोक्षमार्ग) से लेकर सिद्ध दशा पर्यंत की सभी भूमिकायें इसमें समाहित हैं।

यथार्थ भावभासन सहित निज परमात्मतत्व का जो जघन्य आश्रय है, वह सम्यग्दर्शन है। जब यह आश्रय मध्यम तथा उग्र अवस्था को प्राप्त होता है तो देशचारित्र और सकलचारित्र आदि अवस्थायें प्रगट होती हैं। पूर्ण आश्रय लेने से केवलज्ञान और सिद्धत्व की प्राप्ति होकर के जीव कृतकृत्य हो जाता है।

इसप्रकार, निज परमात्मतत्व का आश्रय ही सम्यग्दर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यक्चारित्र है। और यही सत्यार्थ प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, सयम, तप, संवर, निर्जरा, धर्म शुक्लध्यान आदि है। अतएव निज परमात्मतत्व का आश्रय लेकर शुद्ध रत्नत्रय को प्राप्त करना चाहिए। निज परमात्मतत्व के आश्रय से उत्पन्न केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवली की इच्छा रहितता आदि विषयों का संक्षिप्त किन्तु अद्भुत वर्णन किया है।

अष्टपाहुड:-

दंसणपाहुड :- इसमें ३६ गाथायें हैं। सम्यग्दर्शन के स्वरूप एवं महत्व का वर्णन किया गया है सम्यग्दर्शन रहित पुरुष चाहे मुनिलिंग धारी क्यों न हो परंतु वन्दनीय नहीं है। सम्यग्दर्शन से रहित पुरुष को लाखों-करोड़ों वर्षों तक तप करने पर भी बोधि (रत्नत्रय) की प्राप्ति नहीं होती।

चारित्रपाहुड :- इसमें ४५ गाथाओं के द्वारा चारित्र का वर्णन किया गया है। चारित्र के दो भेद किए हैं-एक सम्यक्त्वाचरण चारित्र और दूसरा संयमाचरण चारित्र। निःशंकित आदि आठ गुणों से

सहित निर्दोष रूप से सम्यक्त्व का पालन करना सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है। संयमाचरण सागार और अनगार भेद से दो प्रकार का है। ग्यारह प्रतिमाओं में विभक्त गृहस्थों के संयम को सागार संयमाचरण कहते हैं और मुनियों के आचरण जो पंचमहाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति आदि उत्कृष्ट संयम रूप होता है, वह अनगार संयमाचरण कहलाता है।

सूत्तपाहुड़ :—इसमें २७ गाथायें हैं। जो अरहंत द्वारा निरूपित और गणधरों से रचित हैं उसे सूत्र कहते हैं। सूत्र में जो कहा गया है, उसे आचार्य परम्परा द्वारा प्ररूपित समझना चाहिए। सूत्रों को न जानने वाला मनुष्य नाश को प्राप्त होता है। उत्कृष्ट चारित्र का पालन करनेवाले मुनि यदि स्वच्छन्द भ्रमण करते हैं तो वे भी मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाते हैं। तिलतुष मात्र भी जिसके पास परिग्रह नहीं होता है और जो पाणि-पात्र में भोजन करते हैं, वे मुनि हैं। जिनशासन में तीन ही लिंग हैं-निर्ग्रन्थ (दिगंबर) साधु, उत्कृष्ट श्रावक और अर्जिका; मोक्षमार्ग में इन तीनों को छोड़कर और कोई लिंग नहीं है।

बोधपाहुड़ :—इसमें ६२ गाथाओं के द्वारा आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अरहंत और प्रव्रज्या का स्वरूप बताया है। मुनि-चर्या का मार्मिक वर्णन किया गया है। जो शत्रु-मित्र में, निन्दा-प्रशंसा में, लाभ-अलाभ में, सोना-मिट्टी में समभाव रखते हैं और जो तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं रखते वे ही साधु कहलाते हैं। अन्त में अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य बताकर उनका जय-जयकार किया है।

भावपाहुड़ :—इसमें १६५ गाथाओं के द्वारा भावों का महत्व बताया है। भाव ही प्रथम लिंग है और भावलिंग रहित मात्र द्रव्यलिंग से परमार्थ की सिद्धि नहीं होती। गुण-दोषों का कारण भी भाव ही है। भाव-विशुद्धी के लिए ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। जो अभ्यंतर परिग्रह से सहित है, उसका बाह्य त्याग निष्फल है। भावरहित साधु करोड़ों जन्मपर्यंत वस्त्र त्यागकर तपश्चरण करे तथापि उसे सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती। भावकलंक से यह जीव एक अन्तर्मुहुर्त में ६६३३६ बार जन्म-मरण करता रहता है और दुःख भोगता रहता है। अतः प्रत्येक जीव को अपने परिणामों को /भावों को सुधारना आवश्यक है।

जो शरीरादि परिग्रह से रहित हैं, मान कषाय से विमुक्त हैं, जो अपने आत्मा में लीन हैं, वे साधु भावलिंगी मुनि होते हैं। उसीप्रकार धर्म का वर्णन भी किया है। संसार के सभी दुःखों का नाश करनेवाले जिनधर्म को श्रेष्ठ बताया है। पूजा आदि शुभ कार्यों में व्रतसहित प्रवृत्ति करना पुण्य है और मोह-क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम चारित्र है /धर्म है ऐसा स्पष्ट बताया है।

मोक्षपाहुड़ :—इसमें १०६ गाथायें हैं। आत्मद्रव्य की महिमा का कथन है। इसे समझकर साधु अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है। बहिरात्मपने को छोड़कर अन्तरात्मा बनकर परमात्मा का ध्यान करने की बात कही है। परद्रव्यों में आसक्त जीव, कर्मों से बंधता है और परद्रव्यों से विरक्त जीव, कर्मों से मुक्त होता है। आत्मज्ञान के बिना कितने ही शास्त्रों को पढ़े वह सब कुज्ञान है और आत्मस्वभाव के विपरीत चारित्र का पालन करना बाल चारित्र है।

लिंगपाहुड :—इसमें २२ गाथायें हैं, जिनमें मुनिलिंग की अर्थात् मोक्षमार्ग की चर्चा की गयी है। रत्नत्रय रूप धर्म से मुनिलिंग होता है अर्थात् मुनिलिंग की सार्थकता रत्नत्रयरूप धर्म से ही है। केवल मुनिलिंग धारण करने से धर्म नहीं होता। जो निर्ग्रन्थ होकर भी स्त्रीसमूह के प्रति रागभाव रखता है और अन्यों को दोष सहित बतलाता है, वह तिर्यंच है, मुनि नहीं। जो सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित धर्म का पालन करता है, वह मुनि है।

शीलपाहुड :—इसमें ४० गाथायें हैं। प्रारंभ में भगवान महावीर को नमस्कार करके शील गुण का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की है। शील का महत्व बतलाते हुए कहा है कि ज्ञान के साथ शील का कोई विरोध नहीं है। परन्तु शील रहित ज्ञान विषय-वासना से नष्ट हो जाता है। जो ज्ञान प्राप्ति करके भी विषयों में निमग्न हैं, वे चतुर्गति में भ्रमण करते हैं। और जो ज्ञान प्राप्त करके विषयों से विरक्त होते हैं वे भवभ्रमण का उच्छेद करते हैं। चारित्र रहित ज्ञान, दर्शनरहित मुनि लिंग ग्रहण और संयम रहित तपस्या,—ये सब निरर्थक हैं।

बारस अणुवेक्खा :—इसमें ९१ गाथाओं के द्वारा वैराग्योत्पादक बारह अनुप्रेक्षाओं-भावनाओं का सुन्दर वर्णन किया है। अनु+प्र+ईक्षणं = अनुप्रेक्षा का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—पदार्थ के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से पुनः पुनः देखना। आचार्यदेव ने इन भावनाओं के द्वारा श्रमणों के वैराग्यभाव को पुष्ट किया है। अन्त में अपने नाम का भी उल्लेख किया है।

तिरुक्कुरल — प्रो. ए. चक्रवर्ती ने अनेक प्रकार से सूक्ष्म रीति से खोज करने के बाद "तिरुक्कुरल" को आचार्य कुन्दकुन्द की रचना मानी है। और यह मत अनुकरणीय भी है। इसका रचनाकाल, निरूपित विषय, व्यक्त की गयी भावनायें आदि के सूक्ष्म परिशीलन के बाद हमारे लिए भी तिरुक्कुरल आचार्य की ही कृति मानना अनिवार्य है।

इसमें दस-दस पद्यों से सहित १३३ अधिकार हैं। पहले धर्म भाग में ३८, दूसरे अर्थ भाग में ७० तथा तीसरे काम भाग में २५ अधिकार हैं। कुल मिलाकर १३३० पद्य हैं। यह ग्रंथ कुरल नामक छन्द में लिखा गया है। इसमें आये हुए कुरल छन्द अत्युत्तम हैं। अतः इस ग्रन्थ का नाम भी "कुरल" पड़ा है।

इसमें अर्थ की गहराई, पदार्थ विस्तार और भावों की उत्कृष्टता अद्वितीय है। इसकी अलौकिकता के सम्बन्ध में कहा है कि "कडुगै तोलेत्तर कडप्पु गदिटक्कु रुगान्त कुरल" अर्थात् राई को अन्दर से खोखला करके उसमें सप्त सागर भरने के समान इस कुरल पद्यों में भाव प्रपंच भर दिया है। कुरल के सभी वाक्य इस बात का समर्थन करते हैं। तमिल भाषा में अत्यन्त प्रसिद्ध यह ग्रंथ तमिल जनों की नीति और नागरिकता के निरूपण में अद्वितीय है।

भक्तिसंग्रह :

सिद्धभक्ति के संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्रदेव ने अपनी टीका में "संस्कृताः सर्वा भक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः" ऐसा कहा है। दोनों भक्तियों पर प्रभाचन्द्राचार्य की टीकाएँ हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव रचित आठ भक्तियाँ हैं।

सिद्धभक्ति :—इसमें १२ गाथाओं के द्वारा सिद्धों के गुण, भेद, सुख, स्थान, आकृति, सिद्धि का मार्ग और क्रम का उल्लेख करते हुए भक्ति भाव से सिद्धों की वंदना की है।

श्रुतभक्ति :—इसमें ११ गाथाओं के द्वारा द्वादशांग के भेद प्रभेदों का उल्लेख करके श्रुत को नमस्कार किया है। साथ ही १४ पूर्वों में प्रत्येक की वस्तु संख्या और पाहुड़ों की संख्या दी गई है।

चारित्रभक्ति :—दस अनुष्टप पद्यों द्वारा सामायिक छेदोंपस्थापना परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र नामक पाँच चारित्र, २८ मूलगुण, दसधर्म, तीन गुप्तियाँ, शील, परीषह और उत्तर गुणों का वर्णन करके उनकी प्राप्ति की इच्छा की गयी है।

योगिभक्ति :— इसमें २३ गाथाओं के द्वारा जैन साधुओं का आदर्शजीवन और उनकी चर्या का वर्णन है। योगियों की अनेक अवस्थाओं का, सिद्धियों का, गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें भक्तिभाव से नमस्कार किया गया है

आचार्यभक्ति :—इसमें ७० गाथाओं के द्वारा आचार्य परमेष्ठियों के मुख्य गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया है।

निर्वाणभक्ति :—इसमें २७ गाथाओं में निर्वाण प्राप्त तीर्थकरों और निर्वाण स्थानों का स्मरण करके उन्हें वन्दना की है। इस भक्तिपाठ से अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक विषय ज्ञात होते हैं।

पंचगुरुभक्ति :—इसमें ५ गाथाओं के द्वारा अरहंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं की स्तुति की है और उसका फल बतलाकर उन पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करके भव-भव में सुख प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है।

तीर्थकर भक्ति :—इसमें ८ गाथाओं के द्वारा ऋषभादि सभी तीर्थकरों की वदंना की गई है।

इस प्रकार आचार्यदेव के सभी अलौकिक कृति रत्नों का सामान्य परिचय संक्षेप में यहाँ दिया गया है। इस अत्यल्प परिचय को पढ़कर मूल ग्रन्थ के अध्ययन का भाव जागृत हो, ऐसी हार्दिक इच्छा है। पाठक इस इच्छा को अल्प मात्रा में भी पूर्ण करेंगे तो मेरा यह प्रयत्न सार्थक हो जायेगा।

यहाँ निरूपित आचार्य देव के जीवन चरित्र से उनके महान जीवन का सामान्य परिचय हो; इस उद्देश्य से इस कृति की रचना हुई है। आचार्य ने अपने जीवन में जिस सत्य का साक्षात्कार किया था उसके लिए उनकी कृतियों के अध्ययन की अभिलाषा यदि मन में उत्पन्न होती है तो यह रचना सफल है। आचार्यदेव के समान हम सभी पवित्र होंगे तो ही समझना चाहिए कि हमने आचार्य देव को वस्तुतः समझा है।

पारिभाषिक-शब्दकोश

अरहंत :— नमस्कार योग्य, पूजा और सत्कार योग्य, देवों में उत्तम। घातिकर्म के नाश से उत्पन्न केवलज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों को एक काल में (युगपद) जाननेवाले वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी।

अज्ञानी :— निजशुद्धात्मा को न जाननेवाला न अनुभवनेवाला आत्मज्ञानरहित जीव। अपने से बाह्य पदार्थों में अपनी सत्ता स्वीकार करनेवाला बहिरात्मा।

अप्रमत्त :— व्यक्त-अव्यक्त समस्त प्रमादों से रहित आत्म-लीन मुनि। मूलगुण और उत्तरगुणों से मण्डित, स्व-परज्ञान सहित, कषायों का उपशमक अथवा क्षपक न होने पर भी ध्यानमग्न साधु की अवस्था।

आराधना :— दर्शनज्ञान, चारित्र व तप-इन चारों का उद्योतन करना, उन रूप स्वयं परिणत हो जाना. चारों को दृढ़तापूर्वक धारण करना, चारों का आमरण पालन करना।

आहारक शरीर :—सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करने की अथवा असंयम परिहार की इच्छा से प्रमत्तसंयत साधु जिस शरीर की रचना करते हैं।

औदारिक :—शरीर का एक भेद, मनुष्य तथा तिर्यंच जीवों का शरीर स्थूल होता है उसे औदारिक शरीर, गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होनेवाला शरीर।

उपासना :— शुद्धात्म-भावना की सहकारी कारणरूप से की जानेवाली सेवा।

ऋद्धि :— तपश्चरण के प्रभाव से योगीश्वरों को चमत्कारिक शक्तिविशेष की प्राप्ति को ऋद्धि कहते हैं।

कर्म :—मिथ्यात्व, कषाय तथा योग से ग्रहण किया हुआ सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य।

केवली :— केवल अर्थात् शुद्ध आत्मा को ही जानते हैं, उसका ही अनुभव करते हैं वे केवली। केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण विकसित ज्ञान सहित आत्मा। इन्द्रिय, कालक्रम, दूरदेश इत्यादि व्यवधानों से रहित ज्ञानी।

तप :— कर्म नाशक, इच्छा-निरोधक, विषय-कषायों का निग्रह करनेवाला और आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा में जोड़ने वाला आत्म पुरुषार्थ।

तत्त्व :—वस्तु का जो भाव-रूप वह तत्त्व। पदार्थ का जो स्वभाव उसी स्वभाव-रूप से पदार्थ का रहना वह पदार्थ का तत्व है। तत्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, ध्येय, शुद्ध ये सब शब्द एकार्थवाची हैं। तत्त्व एक लक्षण सत् है। सत् वही तत्त्व है, स्वभावसिद्ध है। तत्त्व के जीवादि सात भेद हैं।

तीर्थंकर :—३४ अतिशय तथा ८ प्रातिहार्य एवम् अनन्त चतुष्टय सहित, त्रिभुवन के अद्वितीय स्वामी, रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का प्रचलन करनेवाले, गर्भादि पंचकल्याणकों के धारक।

तीन शल्य :— माया, मिथ्यात्व व निदान। कपटाचार-माया, विपरीत मान्यता (श्रद्धा), अर्थात् मिथ्यात्व और भावी भोगाकांक्षा निदान।

द्रव्यहिंसा :—पृथ्वीकायिक पांच एकेन्द्रिय-स्थावर जीवों का द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों का घात।

दिव्यध्वनि :—केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात अरहन्त भगवान सर्वांग से एक अनुपम ओंकार ध्वनि निकलती है। भगवान की इच्छा न होने पर भी भव्य जीवों के भाग्य से दिव्यध्वनि सहज खिरती है।

देशविरत :—संयम धारण करने के अभ्यास की अवस्था में स्थित संयम तथा असंयम परिणामों से सहित श्रावक, संयतासंयत विरताविरत, देशव्रती, अणुव्रती भी कहते हैं।

धर्म :—जीवों को संसार दुःखों से निकालकर उत्तम-अविनाशी सुख में विराजमान करनेवाली जीव की परिणति। चतुर्गति के दुःखों से जीवों की रक्षा करनेवाली दयामय रत्नत्रयात्मक परिणति।

निर्जरा :—जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह संबंध वाले पूर्वबद्ध कर्मों का आत्मगत शुद्धि के बल से झड़ जाना।

पर्याय :—द्रव्य का अंश अर्थात् गुण का प्रति समय होनेवाला परिणमन।

प्रमत्त-संयत :—पन्द्रह प्रमादों से सहित छठवाँ गुणस्थान, आहार लेना, पिछी-कमंडलु-शास्त्र का उठाना-रखना, शास्त्र लिखना, उपदेश देना, विहारादि क्रिया-ये सब प्रमत्तसंयत अवस्था में ही होते हैं।

परिषहजय :—मोक्षमार्ग से च्युति न हो और कर्मों की निर्जरा हो, इसलिए क्षुधादि कष्ट सहना, परीषहों का ज्ञान ही न होना अर्थात् आत्मानंद का रसास्वाद करते रहना ही परीषहजय है।

भावहिंसा :– आत्मा में मिथ्यात्व, राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया-लोभादि विकारी भावों का उत्पन्न होना।

मिथ्यात्व :–निजशुद्धात्मतत्त्व के ऊपर श्रद्धा न होने से शरीर, धन, पुत्र स्त्री इत्यादि में अहंकार-ममकार बुद्धि के साथ होनेवाली श्रद्धा गुण की अवस्था, अतत्वश्रद्धान, कुदेवादि का श्रद्धान, वस्तुस्वरूपविषयक विपरीत मान्यता।

मोक्ष :– बंध हेतु के अभाव और निर्जरा से समस्त कर्मों का आत्यंतिक क्षय, अतीन्द्रिय, विषयातीत, उपचार रहित, स्वाभाविक, विच्छेद रहित, पारमार्थिक सुख, चौथा पुरुषार्थ।

योग्यता :–कार्य उत्पन्न करने की कारण की शक्ति, कारण से उत्पन्न होने की कार्य की शक्ति। द्रव्य के परिणमन में द्रव्य की योग्यता ही कारण है।

श्रमण :– शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, निंदा-प्रशंसा, मिट्टी और सोना, जीवन मरणादि में समता स्वभावी अपरिग्रही निरारंभी अनंत ज्ञानादिस्वरूप शुद्धात्मा का साधक, ध्यानमग्न साधु।

श्रावक :–विवेकवान, विरक्तिचित्त, अणुवर्ती गृहस्थ, पंचपरमेष्ठी का भक्त, भेदज्ञानरूपी अमृत का पिपासु, श्रावक के मूलगुण तथा उत्तरगुणों का पालन करनेवाला।

शुद्धात्मा :– मिथ्यात्व, रागादि भावों से रहित होने के कारण प्रत्येक आत्मा स्वभाव से शुद्ध ही है, इसे ही शुद्धात्मा, निजपरमात्मा, भगवान आत्मा, ज्ञायक इत्यादि नाम हैं।

शुद्धोपयोग :–इष्टानिष्ट बुद्धि से रहित होकर ज्ञानानंदस्वभावी निज परमात्मा में उपयोग-ज्ञान को संलग्न करना. जीवन-मरणादि

में इष्टानिष्ट वस्तुओं में समता भाव रखना ही शुद्धोपयोग है। स्वशुद्धात्मा का बुद्धिपूर्वक संवेदन, समाधि, साम्य, समता, वीतरागता, योग, चित्त-निरोध, शुद्धोपयोग-ये सभी शब्द एकार्थवाची हैं।

शुद्धपरिणति :– शुद्धोपयोग से उत्पन्न वीतरागता, समता, पवित्रता, अथवा शुद्धि। शुभाशुभ उपयोग के समय भी शुद्ध परिणति अखण्ड रहती है।

शुभोपयोग :– मन-बचन-कार्यपूर्वक देव-शास्त्र-गुरु की पूजा, भक्ति, पात्रदान, तीर्थयात्रा इत्यादि बुद्धिपूर्वक पुण्यमय परिणाम।

सम्यग्दर्शन-सम्यक्त्व :– यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान, जीवादि सप्त तत्वों का श्रद्धान, स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है —ऐसा श्रद्धान।

सिद्ध :—आठ कर्मों से रहित, आठ गुणों से सहित, अत्यन्त शांतिमय, कृतकृत्य बनकर लोकाग्र में अनंतकाल पर्यंत रहनेवाले ज्ञानशरीरी आत्मा।

स्वभाव :—अंतरंग कारण, वस्तु का स्वभाव वस्तुगत गुणों से सम्बंधित रहता है, बाह्य परिस्थिति से नहीं। वस्तु का स्वरूप ही वस्तु का स्वाभाव है। जैसे पानी की शीतलता।

विभाव :—स्वभाव से विपरीत परिणमन, जैसे पानी की उष्णता।- कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न जीव के क्रोधादि भाव।

विदेहक्षेत्र :—भरतादि ७ क्षेत्र हैं, उनमें एक विदेहक्षेत्र क्षेत्र है। जहाँ वीतराग जैनधर्म अखण्ड रूप से रहता है। और विदेही जिन अर्थात् तीर्थंकर हमेशा रहते हैं।

ज्ञायक :– प्रमत्त-अप्रमत्तादि अवस्थाओं से रहित परमशुद्ध-स्वभावी केवल-ज्ञानस्वभावी भगवान् आत्मा, शुद्धात्मा, शक्तिरूप परमात्मा, ग्रन्थाधिराज समयसार का प्रतिपाद्य विषय।

ज्ञानी :– जो आत्मा कर्म-नोकर्म परिणामों को मात्र जानता है, कर्त्ता नहीं, ज्ञान में ही अपनी सत्ता स्वीकार करनेवाला अन्तरात्मा।

***

"देखो! शास्त्राभ्यास की महिमा!! जिसके होने पर जीव परम्परा से आत्मानुभव को प्राप्त होता है, मोक्षमार्ग रूप फल को प्राप्त होता है। यह तो दूर ही रहो, तत्काल ही अनेक गुण प्रगट होते हैं – क्रोधादि कषायों की मन्दता होती है, पंचेन्द्रिय के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है, अति चंचल मन भी एकाग्र होता है, हिंसादि पाँच पाप नहीं होते, अल्प ज्ञान होने पर भी त्रिकाल संबंधी पदार्थों का जानना होता है, हेय-उपादेय की पहिचान होती है, आत्मज्ञान सन्मुख होता है, इत्यादिक गुण तो शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही प्रगट होते हैं, इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना।

"हे भव्य! शास्त्राभ्यास करने के समय की प्राप्ति होना भी महादुर्लभ है। एकेन्द्रियादि असंज्ञी पर्यंत जीवों के तो मन ही नहीं और नारकी अनेक वेदनाओं से पीड़ित, तिर्यंच विवेक रहित, देव विषयासक्त हैं, इसलिए मनुष्यों को ही अनेक सामग्री मिलने पर शास्त्राभ्यास होता है, सो मनुष्य पर्याय की प्राप्ति ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से महा दुर्लभ है। तुमने भाग्य से यह उत्तम अवसर पाया है, इसलिए जैसे बने वैसे शास्त्राभ्यास करना, अभ्यास करने में आलसी मत होना। इस निकृष्ट काल में इससे उत्कृष्ट कोई दूसरा कार्य नहीं है।"

"देखो, परिणामों की विचित्रता ! कोई जीव तो ग्यारहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र प्राप्त करके पुनः मिथ्यादृष्टि होकर किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्तनकाल पर्यंत संसार में रुलता है, और कोई नित्य-निगोद से निकलकर मनुष्य होकर मिथ्यात्व छूटने के पश्चात् अन्तर्मुहर्त में केवलज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा जानकर अपने परिणाम बिगड़ने का भय रखना और उन्हें सुधारने का उपाय करना। औरों के ही दोष देख-देखकर कषायी नहीं होना, क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से है, इसलिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है।

सर्वप्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है, क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है. मिथ्यात्व का सद्भाव रहने पर अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिए जिस तिस उपाय से सर्वप्रकार मिथ्यात्व का नाश करना योग्य है।

जिनधर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाया फिर छोटा पाप छुड़ाया है! इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसन से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं, अपने आत्मा को दुखसमुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ें। निन्दा-प्रशंसा के विचार से शिथिल होना योग्य नहीं।

कोई निन्दा करता है तो करो, स्तुति करता है तो करो, लक्ष्मी आओ व जहाँ-तहाँ जाओ तथा अभी मरण होओ या युगान्तर में होओ, परन्तु नीति में निपुण पुरुष न्याय मार्ग से एक डग भी चलित नहीं होते।"